स्वर्ण जयन्ती प्रकाशन 2013

BIHAR YOGA

योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला

बुद्धि, भावना और कर्म

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

बुद्धि, भावना और कर्म



WORLD YOGA CONVENTION 2013
GANGA DARSHAN, MUNGER, BIHAR, INDIA
23rd–27th October 2013

बुद्धि, भावना और कर्म

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

विश्व योगपीठ, गंगादर्शन, मुंगेर में 9 से 12 अक्टूबर 2010 तक आयोजित योगदृष्टि सत्संग श्रृंखला के दौरान दिये गये प्रवचन



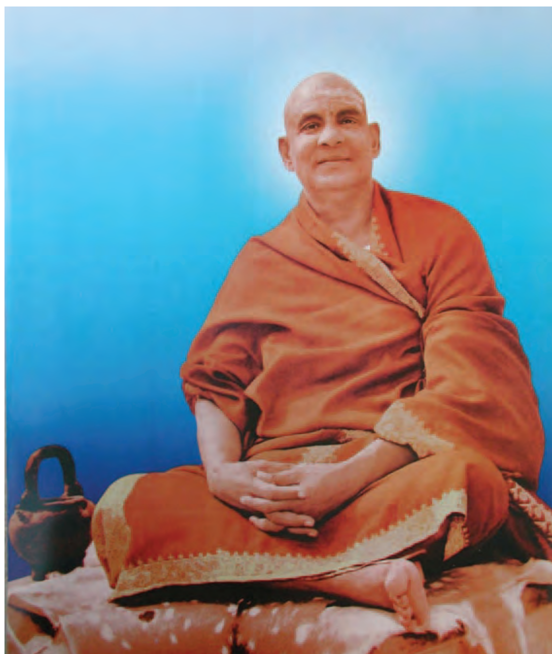
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा *प्रथम प्रकाशन 2011*
पुनर्मुद्रण 2013

ISBN: 978-93-81620-07-6

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट: www.biharyoga.net
www.rikhiapeeth.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

सृष्टि और आध्यात्मिकता

9 अक्टूबर 2010

प्रत्येक मानव इस संसार में बुद्धि, भावना और कर्म – इन तीन क्षमताओं से युक्त होकर आता है। अधिकांश व्यक्ति इन क्षमताओं को समझ नहीं पाते और इसलिए इनका समुचित उपयोग नहीं कर पाते। इन तीनों क्षमताओं का विकास करने से पहले हमें इनका अर्थ समझना होगा, इनमें निहित गुणों, सम्भावनाओं और शक्तियों को पहचानना होगा, और फिर इन्हें जाग्रत करने के उपायों को जानना होगा।

तंत्र और सांख्य के अनुसार सृष्टि की रचना

तंत्र दो सत्ताओं की चर्चा करता है – चेतना और ऊर्जा। तंत्र का मानना है कि सारी सृष्टि चेतना और ऊर्जा की पारस्परिक अन्तर्क्रिया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। समस्त सृष्टि चेतना और ऊर्जा के विभिन्न रूपों और अभिव्यक्तियों से ही निर्मित है। ऊर्जा को देवी या शक्ति और चेतना को शिव के रूप में देखा गया है। हो सकता है कि प्राचीन काल में शिव और शक्ति वास्तविक मनुष्य रहे हों और उन्होंने तंत्र के सिद्धांतों का प्रचार-प्रसार किया हो, पर कथा इतनी प्राचीन है कि तथ्यों को सुनिश्चित करना कठिन है। जो भी हो, तंत्र में शिव और शक्ति की अवधारणा का सम्बन्ध चेतना और ऊर्जा से है। इसलिए तंत्र में जहाँ कहीं शिव और शक्ति शब्दों का उपयोग हो, वहाँ शिव और शक्ति की अन्य अवधारणाओं को बीच में लाकर स्वयं को दिग्भ्रमित नहीं करना।

प्राचीनकाल के ऋषि-मुनियों को ज्ञात था कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में जो कुछ करता है, वह उसके शरीर, मन और व्यक्तित्व में अन्तर्निहित चेतना और ऊर्जा की अभिव्यक्ति मात्र है। यह चेतना और ऊर्जा ब्रह्माण्डीय चेतना और ऊर्जा से पृथक् नहीं है। मनुष्य में निहित चेतना और ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतना में सम्पर्क रहता है। मानवीय ऊर्जा और ब्रह्माण्डीय ऊर्जा में भी सम्बन्ध रहता है। दूसरे शब्दों में, ब्रह्माण्डीय चेतना और शक्ति ही मानवीय प्रकृति और व्यक्तित्व में सूक्ष्म रूप से समाहित हैं।

शक्ति सक्रिय, गतिशील तत्त्व है तो शिव निष्क्रिय एवं अचल तत्त्व। सृष्टि की प्रक्रिया में ब्रह्माण्डीय स्तर पर चेतना और ऊर्जा का विभिन्न प्रकार से संयोजन-विभाजन होता है। इस प्रक्रिया से जो प्रकट होता है, वह है उच्चतर मन, जिसकी अवधारणा हमें सांख्य सिद्धांत की ओर ले चलती है।

चेतना और ऊर्जा के संयोजन से उत्पन्न उच्चतर मन को महत् भी कहते हैं और यह अहंकार, बुद्धि, चित्त और मनस्–इन चार घटकों से निर्मित है। समन्वित रूप से एक साथ क्रियाशील होने पर ये चारों घटक उच्चतर मन के रूप में पहचाने जाते हैं। इनमें विभेद तभी मालूम पड़ता है जब इनमें से कोई एक प्रबल हो जाता है और उसकी स्वतंत्र अनुभूति होती है। तंत्र के अनुसार ब्रह्माण्डीय स्तर पर शिव और शक्ति अर्थात् चेतना और ऊर्जा, परस्पर सामंजस्य की स्थिति में रहते हैं। वे वस्तुतः एक ही होते हैं। जब दोनों एक-दूसरे से अलग होते हैं, तब सृष्टि प्रारम्भ होती है।

जब ऊर्जा चेतना से अलग होती है, तब उसे अपने बूते पर ही कार्य करना होता है। ऊर्जा के कार्यों का निर्देशन करने वाला कोई नहीं रहता। हमारे गुरुदेव स्वामी सत्यानन्द जी एक उदाहरण दिया करते थे। दो मित्र हैं, एक अंधा है और दूसरा लंगड़ा। दोनों मेले में जाना चाहते हैं। पर जायें तो कैसे? अंधा आदमी देख नहीं सकता पर अच्छी तरह चल-फिर सकता है। लंगड़ा आदमी चल तो नहीं सकता पर अच्छी तरह देख सकता है। दोनों एक-दूसरे की मदद करते हैं। लंगड़ा आदमी अन्धे के कन्धे पर बैठ जाता है और उसे राह दिखाने लगता है। वह कहता जाता है – 'आगे बढ़ो, सामने गड्ढा है, उसका ख्याल रखो, आगे ढाल है, दायें मुड़ो, अब बायें मुड़ो।' अन्धा आदमी उसके कहे अनुसार चलता जाता है। शिव और शक्ति या चेतना और ऊर्जा की स्थिति भी कुछ ऐसी ही है। तंत्र कहता है कि शिव तत्त्व पंगु है, वह चल नहीं सकता। जबकि ऊर्जा अंधी है, वह देख या सोच-समझ नहीं सकती, पर चल जरूर सकती है।



जब चेतना और ऊर्जा साथ-साथ रहते हैं तब वे सामंजस्यपूर्वक काम करते हैं। उस समय पूर्ण शान्ति और आनन्द की स्थिति रहती है। लेकिन जब वे अलग हो जाते हैं, जब लंगड़ा अंधे के कन्धों पर से उतर जाता है और उसे स्वयं ही काम करना पड़ता है, तब फिर परिस्थिति भिन्न हो जाती है। चेतना अन्तर्मुखी और निष्क्रिय हो जाती है, जबकि शक्ति सक्रिय तत्त्व बन जाती है। जब शक्ति सक्रिय हो उठती है, तब सृष्टि का कार्य प्रारम्भ होता है। इस सृष्टि-प्रक्रिया का प्रथम परिणाम होता है महत्, जो मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार के चार आयामों से मिलकर बना है।

सृष्टि के क्रम में पंच-तत्त्वों की भी उत्पत्ति होती है। उन्हीं से शरीर का निर्माण होता है। अगर तुम विभिन्न लोगों के व्यक्तिगत स्वभावों का ध्यान से अवलोकन करोगे, तो तत्त्वों की अभिव्यक्ति स्पष्ट हो जायेगी। कुछ लोग

वायु-प्रधान होते हैं, तो कुछ अग्नि-प्रधान। कुछ जल-प्रधान होते हैं, कुछ आकाश-प्रधान और शेष पृथ्वी-प्रधान। जब कोई एक तत्त्व प्रबल होता है तब उसकी विशेषताएँ व्यक्ति के व्यवहार में प्रतिबिम्बित होने लगती हैं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन तत्त्वों ने शरीर का निर्माण किया है और यही तत्त्व इन्द्रियों का सृजन कर संसार से पारस्परिक अंतर्क्रिया करवाते हैं। तत्त्वों के कारण ही मनुष्य अव्यक्त आयाम के बजाय इस व्यक्त आयाम में अवस्थित है। व्यक्त आयाम इन्द्रियों और मन द्वारा ग्राह्य है। तुम किसी पदार्थ का स्पर्श कर उसकी ठोसता का अनुभव कर सकते हो। तुम्हारी इन्द्रियाँ इस भौतिक जगत् में परिव्याप्त इन्द्रिय-विषयों से पारस्परिक क्रिया करती हैं। तुम्हारा मन बाह्य वातावरण और व्यक्तियों, तथा साथ ही आंतरिक वासनाओं, सम्बन्धों और विचारों से पारस्परिक क्रिया करता है। इन्हीं से जीवन आगे बढ़ता है, इनके बिना तुम आध्यात्मिक सजगता विकसित नहीं कर सकते।

आध्यात्मिक चेतना

आध्यात्मिक ज्ञान धार्मिक ज्ञान से भिन्न है। आध्यात्मिकता का धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है, और न ही धर्म का आध्यात्मिकता से कोई वास्ता है। ये दोनों पूर्णतया भिन्न मार्ग हैं। लोगों का मानना है कि किसी धर्म का अनुसरण करने से व्यक्ति आध्यात्मिक बन सकता है, लेकिन यह मान्यता सही नहीं है। आध्यात्मिक चेतना एक व्यक्तिगत अनुभूति है। जीवन को उन्नत करने का यह व्यक्तिगत प्रयास है। इसलिए आध्यात्मिकता और धार्मिकता में अन्तर अवश्य किया जाना चाहिए।

तांत्रिक और यौगिक दृष्टिकोण से आध्यात्मिक होने का अर्थ है अपने भीतर विद्यमान दिव्य गुणों के प्रति सजग होना। लोग सोचते हैं कि ध्यान का अभ्यास करने से वे आध्यात्मिक बन सकते हैं। यह गलत अवधारणा है। लोग मानते हैं कि कोई धर्म अपना लेने से वे आध्यात्मिक हो सकते हैं। यह भी गलत है। लोग ऐसा भी सोचते हैं कि मंत्र का अभ्यास करने से या ईश्वर का स्मरण और पूजन करने से वे आध्यात्मिक हो सकते हैं। यह भी सही नहीं है। इन सब का आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं। ध्यान, चिन्तन, पूजन या ऐसे किसी अन्य प्रयास से तुम आध्यात्मिक नहीं बन सकते। आध्यात्मिकता की खोज अपने भीतर करनी होती है, और यही योग और तंत्र की प्रक्रिया है। आध्यात्मिक आयाम इन्द्रियों और उनके विषयों से परे है। आध्यात्मिक अनुभव शारीरिक और मानसिक अनुभवों से परे हैं।

आध्यात्मिक जीवन की जानकारी जीवन के सामान्य व्यवहारों के अवलोकन और रूपान्तरण से प्राप्त होती है। स्मरण रहे कि चिन्तन, ध्यान, कर्मकाण्ड या पूजा से नहीं, बल्कि स्वधर्म के पालन से व्यक्ति आध्यात्मिक बनता है। प्राय: सभी लोग इस सिद्धांत की उपेक्षा करते हैं। कोई अपने धर्म का पालन नहीं करता, लेकिन हर कोई ध्यान करने का प्रयास अवश्य करता है।

लोग अक्सर मेरे पास आकर पूछते हैं, 'मैं आध्यात्मिक कैसे बन सकता हूँ?' मैं उनसे कहता हूँ, 'सबसे पहले दूसरों की आलोचना करना छोड़ो, अपने मन से नकारात्मकता दूर करो, अपने स्वभाव से हिंसक और आक्रामक प्रवृत्तियाँ हटाओ।' वे आगे पूछते हैं, 'क्या मुझे ध्यान करना चाहिए?' मैं कहता हूँ, 'नहीं। तुम्हें अपने आध्यात्मिक स्वरूप की खोज के लिए ध्यान की कतई आवश्यकता नहीं।' अविश्वास भरी निगाहों से वे मेरी ओर देखते हैं, क्योंकि वे सदा से सुनते आए हैं – 'ध्यान के द्वारा दिव्यता का अनुभव करो।' सब ने उनसे यही कहा है कि जीवन का लक्ष्य आत्मानुभूति या ईश्वरानुभूति है। यही आशा और अपेक्षा उन्हें अपने अन्दर ईश्वर की खोज करने के लिए प्रेरित करती है। लेकिन भीतर स्थित भगवान की खोज नहीं की जा सकती, विशेषकर उन लोगों द्वारा जो सांसारिक जीवन के दलदल में फंसे हुए हैं। उनमें वह संकल्प शक्ति नहीं है, वह उत्साह और मानसिक दृढ़ता नहीं है जिससे यह सम्भव हो सके। इसलिए वे ध्यान तो करते हैं पर ईश्वर-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार कभी नहीं प्राप्त कर पाते। उच्च आध्यात्मिक अनुभूतियों की प्राप्ति के लिए किस प्रकार साधनाओं को समन्वित और सम्मिलित किया जाय, इसकी समझ में एक बहुत बड़ी त्रुटि है।

मैं जो बात कह रहा हूँ वह सभी पर लागू होती है, चाहे वह संन्यासी हो या गृहस्थ साधक। संन्यास-ग्रहण से कोई आध्यात्मिक नहीं बन जाता, न ही योग किसी को आध्यात्मिक बनाता है। अपने स्वभाव को जानना, अपने व्यवहार को बदलना, अपने स्वधर्म को समझना और उसके सिद्धांतों का अनुसरण करना ही व्यक्ति को आध्यात्मिक बनाता है।

तंत्र – जीवन में सकारात्मक परिवर्तन का मार्ग

तंत्र सदा से निश्चयपूर्वक कहता आया है कि आध्यात्मिक मार्ग व्यक्तित्व के सकारात्मक परिवर्तन का मार्ग है। तंत्र तुमसे अपेक्षा करता है कि तुम एक विधि और मार्ग का अनुसरण कर अपने व्यक्तित्व की गुणवत्ता को बदलो,

उसका परिष्कार करो। तांत्रिक पद्धतियाँ जीवन की कठिनाइयों और दु:खों पर विजय प्राप्त करने की विधियों का वर्णन करती हैं। तंत्र में माँ पार्वती भगवान शिव से पूछती हैं, 'मुझे ज्ञान-प्राप्ति की नहीं, बल्कि जीवन के दु:खों और कष्टों से छुटकारा दिलाने वाली विधियाँ बताइये।' तब भगवान शिव उन्हें जीवन के दु:खों से उबरने की प्रक्रिया बतलाने लगते हैं। दु:खों की निवृत्ति के बाद जिस नये मन का अनुभव होता है, वह उच्चतर या ब्रह्माण्डीय मन ही होता है।

इस भौतिक शरीर और संसार में रहते हुए भी यह सब प्राप्य है। नये, परिष्कृत मन को प्राप्त करना सम्भव है, और इसी के लिए तुम्हें प्रयत्नशील होना है। तंत्र स्पष्ट भाषा में कहता आया है कि तुम्हें अपनी कमजोरियों और कमियों से पलायन नहीं, बल्कि उनका सामना करना है। तुम्हारी इन्द्रियाँ और ज्ञान के साधन सीमित हैं; तुम्हारा अहंकार, तुम्हारी स्मृति और बुद्धि स्वतंत्र नहीं, परिस्थितियों द्वारा प्रभावित हैं। तुम इस सीमित दायरे में रहते हुए सुख और दु:ख का अनुभव करते जाते हो, पर अगर इनके अलावा अपने भीतर कुछ और खोजने की इच्छा हो तो साधना की प्रक्रिया से गुजरना आवश्यक है।

सत्-चित्-आनन्द की खोज

तांत्रिक परम्परा कहती आयी है कि मनुष्य को अपने भीतर तीन तत्त्वों या अनुभवों की खोज करनी है। प्रथम अनुभव है सत्। तुम्हें जानना होगा कि यथार्थ क्या है। सभी वस्तुओं में तुम्हें सत्य की खोज करनी होगी। दूसरा अनुभव है चित्, चेतना का अपनी स्व-आरोपित सीमाओं का अतिक्रमण कर सकने का अनुभव। तीसरा अनुभव है आनन्द, यह अनुभव कि जीवन में न दु:ख है न पीड़ा, केवल आनन्द ही आनन्द है। सत्, चित् और आनन्द तीन अनुभूतियाँ हैं जिन्हें जीवन में खोज निकालना है। इनसे जीवन की यात्रा पूरी होती है, क्योंकि सत्-चित्-आनन्द की अवस्था में सारे द्वैत व्यवहार समाप्त हो जाते हैं। यहाँ आकर सही और गलत की अवधारणाएँ पैदा करने वाले सभी प्रकार के द्वन्द्वात्मक आचार-विचार समाप्त हो जाते हैं, और मनुष्य सत्य, आनन्द एवं उच्च चेतना के आयाम में स्थापित हो जाता है। यही आयाम तंत्र में मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। मनुष्य को यही अर्जित और अनुभव करना है।

तंत्र का सम्पूर्ण विषय वस्तुत: सत्, चित् और आनन्द की खोज ही है। अंतिम सत्य क्या है? किस प्रकार मनुष्य अपनी चेतना को परिष्कृत और

विकसित कर स्थायी रूप से आनन्दमय अवस्था का अनुभव कर सकता है? योग, जो तंत्र से ही उपजा विज्ञान है, इसी विचार का अनुमोदन और अनुसरण करता है। जब महर्षि पतंजलि समाधि की चर्चा करते हैं तब वे समाधि का वर्णन किसी निश्चल, निष्क्रिय मानसिक दशा के रूप में नहीं, बल्कि मन के उत्तरोत्तर स्तरों और अवस्थाओं के रूप में करते हैं। इन क्रमिक स्तरों से गुजरते हुए स्थूल मन का अतिक्रमण होता जाता है और व्यक्ति उच्चतर मन में अधिकाधिक स्थापित होता जाता है। जब व्यक्ति उच्चतर मन में पूर्णतया स्थापित हो जाता है, तब सत्, चित् और आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

तंत्र के मूल सिद्धान्त को संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। कालक्रम में ब्रह्माण्डीय चेतना और ऊर्जा इस भौतिक संसार और जीवन का रूप लेते हैं। भौतिक जीवन मन और इन्द्रियों के दायरे तक सीमित होता है। चेतना की व्यापकता का अनुभव करने और इस परिवर्तनशील जीवन के पीछे छिपी वास्तविकता को जानने के लिए व्यक्ति को सत्, चित् और आनन्द के मार्ग का अनुसरण करना पड़ता है। और इस मार्ग का नाम है योग।



संसार का स्वरूप

सांख्य दर्शन सृष्टि के आरम्भ से चले आ रहे क्रम-विकास का निरूपण करता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियों, पंचतत्त्वों, पंचतन्मात्राओं और तीन गुणों के परस्पर संयोजन से किस प्रकार इस दृश्य जगत् की संरचना होती है, सांख्य इसकी स्पष्ट व्याख्या करता है। सृष्टि की इन क्रमिक अभिव्यक्तियों के माध्यम से ही जीव अपने संसार से तादात्म्य स्थापित कर पाता है।

यदि तुम्हारे पास इन्द्रियाँ नहीं होतीं, तो तुम अपने वातावरण से कोई सम्बन्ध नहीं रख पाते। उच्चतर मन के बिना तुम मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार की अभिव्यक्तियों को नहीं समझ पाते। वास्तव में इस जीवन में तुम जिन क्षमताओं से युक्त होकर आते हो, वे केवल तुम्हारे भौतिक जीवन को चलाने के लिए हैं। अगर भगवान तुम्हें पहले दिन से ही शुद्ध-बुद्ध देखना चाहते तो वे तुम्हें तामसिक स्वभाव नहीं देते। वे न तो तुम्हें वासनाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ देते, न ही ईर्ष्या, द्वेष और लालच। बल्कि वे तुम्हें ऐसे सद्गुण देते जो तुम्हें विकास मार्ग पर तेजी से आगे ले जाते।

संसार का स्वभाव ही ऐसा है कि यह चेतना के विकास में बाधक होता है। आध्यात्मिक जीवन में तुम चाहे जितना परिश्रम करो, कोई-न-कोई सांसारिक बाधा हमेशा तुम्हारा रास्ता रोकने का प्रयास करेगी। चाहे वह तुम्हारे परिवार से सम्बन्धित हो या व्यवसाय से, कोई-न-कोई समस्या तुम्हारे मन को संसार की ओर जरूर मोड़ देगी। संसार से सम्पर्क आसक्ति उत्पन्न करता है, और मन एवं इन्द्रियों का स्वभाव ही आसक्त होने का है। इन्द्रियाँ हमेशा सुखद चीजों की खोज करती हैं और दु:खद चीजों को अस्वीकार करती हैं। मन सदा आनन्ददायक और मनोरंजक वस्तुओं को खोजता रहता है। मनोरंजन के अभाव में वह ऊब जाता है। इस तरह तुम्हारे पास जितने भी उपकरण हैं, वे सब संसार से पारस्परिक क्रिया के लिए ही बने हैं।

संसार के निकास-द्वार

यद्यपि मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति संसार से जुड़ने की है, फिर भी कुछ निकास-मार्ग खुले छोड़ दिये गये हैं ताकि जो व्यक्ति संसार में नहीं रहना चाहते, वे संसार से निकलकर किसी अन्य तत्त्व से जुड़ सकें। जिस तरह हर घर में एक द्वार होता है, उसी तरह संसार से बाहर निकलने का भी एक द्वार होता है। यदि तुम किसी कारणवश घर में नहीं रहना चाहते तो चुपचाप

दरवाजे से बाहर निकल जाते हो। उसी प्रकार इस संसार से निकलने के लिए कुछ निकास-द्वार हैं जो तीन तरह से पहचाने जा सकते हैं – पहला, जब तुम्हें अपने अन्दर आनन्द खोजने की तीव्र इच्छा अनुभव हो, दूसरा, जब तुम्हें गुरु की प्राप्ति हो जाए, और तीसरा, जब गुरु तुम्हें चपत जड़ दें। जब तुम से कोई गलती होती है, तब गुरु तुम्हें सुधारने का प्रयास करते हैं और अगर गुरु में तुम्हारी श्रद्धा, विश्वास और आस्था है, तो तुम उनके निर्देशों के प्रति पूरी निष्ठा रखोगे। निष्ठा और श्रद्धा का भाव निकास-द्वार को और अधिक खोल देता है।

1. मोक्ष की तीव्र इच्छा – संसार के निकास-द्वार की खोज हेतु सबसे पहले तीव्र इच्छा आवश्यक है। श्री रामकृष्ण परमहंस के जीवन का एक प्रसंग आता है। एक बार एक साधक उनके पास आया और बोला, 'मैं माँ काली का दर्शन प्राप्त करना चाहता हूँ। आप तो माँ काली से सहज वार्त्तालाप किया करते हैं। आप माँ से क्यों नहीं कहते कि वे मुझे दर्शन दें?' रामकृष्ण ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह व्यक्ति उनसे जिद्द करने लगा पर रामकृष्ण मौन ही रहे। तब तक संध्या हो गई थी। रामकृष्ण उठे और गंगा स्नान के लिए चल पड़े। वह व्यक्ति उनके पीछे-पीछे यह बड़बड़ाते हुए चल पड़ा कि आपने अभी तक मुझे कोई उत्तर नहीं दिया। रामकृष्ण ने कहा, 'आओ, पहले स्नान कर लें, फिर मैं तुम्हें उत्तर दूँगा।'

'वाह! स्नान के बाद मुझे मेरा उत्तर मिल जायेगा,' मन-ही-मन ऐसा सोचते हुए वह साधक पानी में कूद गया। जैसे ही वह पानी में उतरा, रामकृष्ण ने उसकी गर्दन पकड़ी और उसका सिर पानी में डुबा दिया। उस व्यक्ति का दम घुटने लगा। साँस के लिए छटपटाते हुए वह अपने हाथ-पैर पटकने लगा, पर रामकृष्ण उसके कंधे पर सवार रहे। अन्त में वह व्यक्ति इतना उत्तेजित हो गया कि एक झटके में उसने रामकृष्ण को दूर फेंक दिया और मुक्त होकर लम्बी साँस ली। तब रामकृष्ण ने उससे कहा, 'जब माँ के दर्शन की इच्छा इतनी तीव्र हो जायेगी, केवल तभी तुम्हें दर्शन प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं।' जो बात उन्होंने उस साधक से कही, वह हम सब पर भी लागू होती है।

कुतूहल और प्रगाढ़ भावना में अन्तर होता है। अधिकांश व्यक्ति कुतूहलवश आध्यात्मिक जीवन के साथ प्रयोग करते हैं – 'चलो देखते हैं यह नई चीज क्या है!' वे भाव की तीव्रता के कारण नहीं आते। अगर तुम्हारी आध्यात्मिक खोज का आधार कुतूहल ही है तो वह बेहद कमजोर आधार है।



आश्रम आने के पन्द्रह दिन बाद तुम ऊब जाते हो और कहते हो, 'यह आश्रम अच्छा नहीं है। मैं किसी दूसरे आश्रम में जाकर हठयोग का जमकर अभ्यास करूँगा।' बीस दिन बाद तुम दूसरे आश्रम से भी ऊब जाते हो और कहते हो, 'बहुत हो गया। हठयोग से सारा शरीर दर्द कर रहा है। अब मुझे आयुर्वेद की आवश्यकता है।' अच्छी मालिश के लिए तुम केरल पहुँच जाते हो। जब शरीर कुछ तरो-ताजा और लचीला हो जाता है, तब सोचते हो, 'जब तक मैं इस शहर में हूँ क्यों न थोड़ा-बहुत विन्यास-योग का अभ्यास कर लूँ।' कुछ देर विन्यास-योग का अभ्यास करने के बाद कहते हो, 'यह शिक्षक अच्छा नहीं है। बेहतर होगा कि अब मैं घर चलूँ।'

तुम्हारे जीवन में प्रत्येक सम्बन्ध और कार्य कुतूहलवश ही होता है। यहाँ तक कि लोग संन्यास भी कुतूहलवश लेते हैं। संन्यास के प्रति उनकी कोई श्रद्धा या प्रतिबद्धता नहीं होती। अगर भावना तीव्र होती तो नौसिखिये संन्यासी जिन मानसिक ऊहापोहों से गुजरते हैं, वे कभी नहीं आते। 'ऐसा क्यों, वैसा क्यों नहीं; मैं ही क्यों, तुम क्यों नहीं; तुम्हारे पास जो है वह मेरे पास क्यों नहीं' – इस तरह के ऊहापोह कुतूहल के ही परिणाम हैं। ये एक

अत्यंत क्षुद्र मानसिकता को दर्शाते हैं जो हमेशा तुलना और ईर्ष्या करती रहती है। इसलिए इच्छा की तीव्रता प्रथम आवश्यकता है।

2. गुरु की खोज – गुरु की प्राप्ति से दूसरे निकास-मार्ग का पता चलता है। अब प्रश्न उठता है कि गुरु की प्राप्ति कैसे हो? क्या अखबार में छपे सबसे बड़े विज्ञापन को देखकर वहाँ फोन लगाना चाहिए? क्या बड़े विज्ञापन वाला गुरु बड़ा है और छोटे विज्ञापन वाला छोटा? अगर सचमुच ऐसा है तो बगैर विज्ञापन वाला गुरु कहलाने लायक ही नहीं!

गुरु वह व्यक्ति है जिससे तुम एक आध्यात्मिक सम्बन्ध का अनुभव करते हो। किसी ने मुझसे एक बार पूछा, 'मैं अभी तक गुरु की तलाश कर रहा हूँ। क्या आप मेरे गुरु बन सकते हैं?' मैंने उल्टा प्रश्न किया, 'पहले यह बतलाओ कि तुम गुरु में क्या खोज रहे हो? क्या तुम लम्बा गुरु चाहते हो या नाटा? मोटा गुरु चाहते हो या पतला? आखिर तुम खोज क्या रहे हो?' उत्तर मिला – 'अनुकूलता।' मैंने पूछा, 'किस प्रकार की अनुकूलता? बौद्धिक अनुकूलता? गुरु से तुम कभी भी बौद्धिक रूप से अनुकूल नहीं हो सकते, क्योंकि उनकी बुद्धि का स्तर तुम से भिन्न है। भावनात्मक अनुकूलता? यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि गुरु की भावनाएँ तुम से भिन्न हैं।' तब उस आदमी ने कहा, 'मैं ऐसा व्यक्ति खोज रहा हूँ जो मेरा मार्गदर्शन कर सके।' मैंने कहा, 'किसी मार्गदर्शक की खोज करने से पहले तुम यह जानने का प्रयास करो कि क्या तुम उसके निर्देशों का पालन करने के लिए तैयार हो या नहीं।'

यही वास्तविकता है। गुरु मार्गदर्शक हैं, जो तुम्हें प्रेरित कर सकते हैं, तुम्हारे आध्यात्मिक विकास हेतु तुम्हें निर्देश दे सकते हैं। परन्तु तुम्हें स्वयं अपने जीवन की आवश्यकताओं की उचित समझ और जानकारी होनी चाहिए। गुरु आध्यात्मिक मार्गदर्शक हैं, सामाजिक नहीं। उनका काम शादी-ब्याह रचाना नहीं है। उनसे यह अपेक्षा मत रखो कि वे तुम्हें बतलायेंगे कि किससे शादी करो और किससे नहीं। वे कोई मनोवैज्ञानिक नहीं जो तुम्हारी मानसिक समस्याओं का समाधान दे सकें। वे कोई वित्तीय विशेषज्ञ भी नहीं जो तुम्हारी आर्थिक समस्याओं को सुलझा सकें।

गुरु से सम्बन्ध अत्यंत पवित्र होता है। यह एक अंतरंग सम्बन्ध है, चर्चा या गप्प का विषय नहीं। अगर तुम गुरु द्वारा कही गई बातों और निर्देशों को गप्प में उड़ा देते हो, तो इसका मतलब यही कि गुरु से तुम्हारा सम्बन्ध स्पष्ट नहीं है। ऐसी स्थिति में तुम्हारी बिल्कुल भी प्रगति नहीं होगी। लेकिन अगर

तुम इस सम्बन्ध की पवित्रता बनाये रख सकते हो तो एक गहरा और प्रगाढ़ सम्बन्ध विकसित हो सकता है जो न बौद्धिक होगा, न मानसिक और न ही भावनात्मक। यह सम्बन्ध आध्यात्मिक होता है। गुरु और शिष्य के बीच ऐसा ही सम्बन्ध विकसित होना चाहिए क्योंकि इसी से आध्यात्मिक जगत् की ओर ले जाने वाला द्वार खुलता है।

3. गुरु का तमाचा– अगर तुम अपने जीवन का निष्पक्ष विश्लेषण करोगे तो पाओगे कि तुम्हारा जीवन कुछ ही चीजों के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। घर-परिवार, यार-दोस्त, नौकरी-पेशा– हर व्यक्ति के जीवन में यही मुख्य चीजें हैं। तुम चाहे जो भी करो, इन चीजों से सम्बन्ध हर समय जुड़ा रहता है। ध्यान में भी परिवार और समाज से एक कड़ी जुड़ी ही रहती है। यह कड़ी कभी टूटती नहीं। यह एक मोटी रस्सी के समान है जो तुम्हें जबरन संसार की ओर खींचती है। दूसरी ओर एक पतला धागा है जो तुम्हें आध्यात्मिक जीवन की ओर खींच रहा है। कौन-सा ज्यादा मजबूत है, रस्सी या धागा? आध्यात्मिक जीवन का पतला धागा बड़ी आसानी से टूट जाता है और संसार से जुड़ी मोटी रस्सियाँ हमें भौतिक धरातल की ओर वापस खींच लाती हैं।

ऐसे समय पर गुरु के तमाचे की जरूरत पड़ती है। गुरु को आकर सतर्क करना पड़ता है, 'सावधान! एक बार फिर अपने लक्ष्य का ख्याल करो, अपने ध्येय को पहचानो।' यदि तुम अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठावान् हो तो तुम्हें किसी प्रकार उन रस्सियों को काटना ही होगा, जो तुम्हें भौतिक जगत् की ओर खींच ले जाती हैं। लेकिन अगर तुम्हारी भौतिक इच्छाएँ बहुत प्रबल हैं तो फिर आध्यात्मिक जीवन को भूल जाओ। सांसारिक जीवन बिताते हुए अपने संस्कारों और कर्मों को भोगो।

जैसे दिन और रात एक साथ नहीं चल सकते, तेल और जल आपस में मिलकर एक नहीं हो सकते, वैसे ही आध्यात्मिक जीवन और सांसारिक जीवन साथ-साथ नहीं चल सकते। जल जल रहता है और तेल तेल। रात रात है और दिन दिन। ये कभी आपस में मिल नहीं सकते। उसी तरह भौतिकता और आध्यात्मिकता हमेशा एक-दूसरे से अलग हैं।

भौतिक मानसिकता में परिवर्तन

भौतिक मानसिकता को बदलना जरूरी है। तंत्र के अनुसार जीवन में सकारात्मक और परोपकारी गुणों के विकास से भौतिक मानसिकता बदली

जा सकती है। भौतिक जगत् में सामान्य रूप से क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, लोभ, प्रमाद आदि ही अभिव्यक्त होते हैं। लेकिन आध्यात्मिक चेतना के जागरण के लिए इन नकारात्मक आचरणों का विलीन होना और जीवन के सकारात्मक गुणों का उदय होना आवश्यक है। जीवन की सकारात्मक शक्तियों में प्रेम, करुणा, दया, सहानुभूति और समझ सम्मिलित हैं। मेरे विचार से जीवन की सबसे सकारात्मक शक्ति प्रेम नहीं, समझ-बूझ है। प्रेम केवल एक अभिव्यक्ति है, जबकि समझ एक शक्ति है। आपसी समझ से प्रेम स्वत: आता है। समझ के अभाव में प्रेम रहता भी नहीं। इसलिए समझ मनुष्य द्वारा धारण करने योग्य सर्वोत्तम गुण है।

जब जीवन में सही समझ और स्पष्ट मानसिकता रहती है, तब मनुष्य जीवन में कुछ भी प्राप्त कर सकता है। समझ के अभाव से ही परिवार और समाज की सारी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। दो व्यक्तियों के बीच गलतफहमी पैदा होती है और वहीं से समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इससे क्या पता चलता है? यही कि तुम्हारे स्वभाव का एक अंश कठोर और अनम्य है, वह दूसरों को समझना नहीं चाहता, केवल अपनी इच्छा मनवाना चाहता है। जब तुम बिना सोचे-समझे अपनी ही मर्जी मनवाना चाहते हो, तब ढेरों समस्याएँ और संघर्ष पैदा होते हैं। इसलिए तंत्र कहता है कि समझ ही वह मौलिक



सद्‌गुण है जिससे जीवन में अन्य कोमल, सकारात्मक गुण विकसित होते हैं। आध्यात्मिक चेतना ध्यान से नहीं बल्कि समझ और सहानुभूति को विकसित करने से जागृत होती है।

बुद्धि, भावना और कर्म

बुद्धि, भावना और कर्म की क्षमताओं को विकसित करने के लिए अपने स्वभाव और व्यक्तित्व के सभी पक्षों को व्यवस्थित करना पड़ता है। तुम अपनी चेतना को कैसे सम्हालते हो; अपने भीतर की ऊर्जाओं को कैसे व्यवस्थित करते हो; अपने मन की प्रतिभा, हृदय की उदारता और हाथों की सृजनशीलता को कैसे विकसित करते हो – इन्हीं बातों से तुम्हारी यौगिक यात्रा का सम्बन्ध है।



योग – जीवन का सम्पोषक

10 अक्टूबर 2010

तंत्र दर्शन के शिव और शक्ति तत्त्व वस्तुत: चेतना और ऊर्जा ही हैं। प्राचीनकाल के मनीषियों ने शिव और शक्ति शब्दों का उपयोग किया, क्योंकि उस समय उनकी यही भाषा थी। वे इस निष्कर्ष पर भी पहुँचे कि जब ये दोनों तत्त्व एक साथ सामंजस्य की स्थिति में रहते हैं तब कोई सृजन-कार्य नहीं होता। उस समय केवल सत्, चित् और आनन्द की शुद्ध अवस्था रहती है। सृष्टि उस समय होती है, जब शिव और शक्ति अर्थात् चेतना और ऊर्जा एक-दूसरे से अलग होकर स्वतंत्र रूप से क्रियाशील हो जाते हैं। यह सारा भौतिक जगत् शिव से स्वतंत्र हुई शक्ति की गतिविधियों का ही परिणाम है।

शिव और शक्ति की भूमिकाएँ

विशुद्ध आद्याशक्ति का एक नाम योगमाया भी है। योगमाया शब्द में दो अवधारणाएँ निहित हैं – योग और माया। योग का अर्थ है निकट आना, मिलना या जुड़ना, जबकि माया का तात्पर्य वियोग और भ्रान्ति से है। इस प्रकार आद्याशक्ति की दो भूमिकाएँ हो जाती हैं, एक 'योग शक्ति' और दूसरी 'माया शक्ति'। जीवन में शक्ति की अभिव्यक्ति की ये दोनों सम्भावनाएँ दिखाई पड़ती हैं – योग की दिशा में जाना या माया की दिशा में। अगर तुम योग की दिशा में जाना चाहते हो तो तुम उस ऊर्जा का उपयोग अपने उद्गम-स्थान की ओर लौटने में कर रहे हो। अगर तुम भोग के लिए माया की ओर जा रहे हो, तो माया तुम्हें अपने उद्गम से पृथक् कर रही है, दूरी बढ़ा रही है। यही आद्याशक्ति की भूमिका है।



जिस प्रकार आद्याशक्ति का अन्य नाम योगमाया है, उसी प्रकार शिव का अन्य नाम सच्चिदानन्द है, जो शिव तत्त्व में निहित सत्य, चेतना और आनन्द की ओर संकेत करता है। जहाँ सत्य है वहाँ चेतना और आनन्द है, पूर्णता, समग्रता और संतुष्टि है। विकासशील चेतना ही सत्य और चिरन्तन आनन्द की अनुभूति प्राप्त करती है। इस प्रकार शिव का स्वरूप सच्चिादानन्द का और शक्ति का स्वरूप योगमाया का है। ये नाम शिव और शक्ति में निहित सामर्थ्य और सम्भावनाओं की ओर संकेत करते हैं।

जब शिव और शक्ति एक-दूसरे से अलग होते हैं, तब ब्रह्माण्ड की साम्यावस्था भंग हो जाती है। शिव और शक्ति की स्वतंत्र पहचान बन जाती है, दोनों की भूमिकाएँ पृथक् हो जाती हैं। जब शक्ति शिव से अलग होती है तब सृष्टि प्रारम्भ होती है। पर सृष्टि में शिव को भी एक भूमिका निभानी पड़ती है। शक्ति स्वयं सृष्टि-कार्य में अक्षम है, क्योंकि शक्ति में दृष्टि या समझ नहीं होती। शिव में दृष्टि तो है पर वह कर्म करने में अक्षम है, क्योंकि उसमें ऊर्जा नहीं है, वह मात्र 'अस्तित्व' की अवस्था है। मैंने एक अंधे और एक लंगड़े आदमी का उदाहरण दिया था, जो किसी मेले में जाना चाहते हैं। लंगड़ा आदमी अंधे के कंधे पर सवार होकर उसका मार्गदर्शन करता है और अन्ततः दोनों अपने गन्तव्य पर पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार शिव और शक्ति सृष्टि-संरचना में एक-दूसरे का सहयोग करते हैं।

सृष्टि में शिव का योगदान सूक्ष्म रहता है, जो महत् के रूप में प्रकट होता है। महत् के चार भाग होते हैं – अहंकार, चित्त, बुद्धि और मनस्। यह है शिव की भूमिका। शक्ति पंच-भूतों, पंच-तत्त्वों और पंच-तन्मात्राओं के सृजन के लिए उत्तरदायी है। प्रत्येक भौतिक वस्तु शक्ति द्वारा ही रची गई है। वह पंच-तत्त्वों का सृजन करती है, और इन तत्त्वों के आपसी संयोग से अनगिनत ब्रह्माण्ड और असंख्य प्राणी उत्पन्न होते हैं। स्वयं मनुष्य-शरीर भी पंच-तत्त्वों के संयोजन का परिणाम है। इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों की सृष्टि का कारण भी शक्ति ही है। महत् के प्रादुर्भाव के बाद शिव की भूमिका समाप्त हो जाती है। महत् सूक्ष्म सृष्टि है, और स्थूल सृष्टि की रचयिता शक्ति है।

मानव मन की विशेषताएँ

अब चर्चा का जो विषय है वह तुम लोगों से सीधा सम्बन्धित है, इसलिए इसे ठीक से समझने का प्रयास करना। यदि सृष्टि पाँच तत्त्वों से बनी है, तो यह शरीर भी पाँच तत्त्वों से बना होना चाहिए। यदि सृष्टि केवल आकाश तत्त्व से बनी होती, तो शरीर भी आकाश-सदृश होता। अगर सृष्टि में केवल अग्नि रहती, तो शरीर के रूप और गुण भी अग्नि समान होते। यदि सृष्टि केवल जलमयी होती, तो सभी प्राणी भी जलाधारित होते। इसका तात्पर्य यह कि शक्ति ने प्रत्येक प्राणी को अपने प्राकृतिक वातावरण में जीने के अनुकूल रचा है। जल का प्राणी पृथ्वी पर नहीं जी सकता। अग्नि का प्राणी जल में नष्ट हो जायेगा। पृथ्वी का प्राणी जल में नहीं जी सकता, अग्नि में तो वह भस्म ही हो जायेगा। ब्रह्माण्ड में अनेक आयाम हैं जहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी जीते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उनका हमारे जैसा ही शरीर हो, वे सूक्ष्म शरीर और ऊर्जा से भी युक्त हो सकते हैं।

जब कोई प्राणी अपने वातावरण में जीने हेतु अनुकूलित हो जाता है, तब महत् तत्त्व या महामन सक्रिय हो जाता है और उसके विशेष गुण अपना काम करने लगते हैं।

अहंकार – महत् का पहला गुण है अहंकार। जब अहंकार सक्रिय होता है, तब 'मेरा अस्तित्व है', 'मैं यह हूँ' – इस भाव का बोध हो जाता है। स्वयं की यह पहचान अहंकार की प्रथम अभिव्यक्ति है। 'मेरा अस्तित्व है', इसलिए 'मेरे' अहंकार की सभी अभिव्यक्तियाँ 'मेरे अस्तित्व' पर आधारित हैं। 'मेरा' एक प्राणी के रूप में, एक व्यक्ति के रूप में 'अस्तित्व है', यह सजगता अहंकार की

पहचान है। अहंकार की अन्य सभी अभिव्यक्तियाँ आत्म-रक्षा की मूल प्रवृत्ति से उभरती हैं। इसलिए आत्म-रक्षा की मूल प्रवृत्ति सबसे प्रबल होती है।

आत्म-रक्षा अपने शरीर, मन, परिवार और समाज की रक्षा है। कोई नहीं चाहता कि उसका घर गिर जाय, उसका शरीर अस्वस्थ हो, उसका परिवार या समाज विपत्ति में पड़े। जब सभी ओर आरोग्य, शान्ति और सौम्यता रहती है तब सभी व्यक्ति संतुष्ट हो जाते हैं। लेकिन जब व्यक्तिगत या सामाजिक समस्या रहती है, तब मानव मन व्यथित हो जाता है। यह अहंकार की ही एक अभिव्यक्ति है। ऐसी सभी मूल-प्रवृत्तियाँ जिनपर तुम्हारा नियंत्रण न हो, जिनका तुम सही दिशान्तरण न कर सको, अहंकार की अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनका प्रयोजन मात्र आत्म-तुष्टि है।

मूल प्रवृत्तियाँ चार हैं – आहार, निद्रा, भय और मैथुन। आहार का तात्पर्य केवल भोजन से नहीं बल्कि सभी प्रकार की लालसाओं से है। आहार का आधार है अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति। मनुष्य की दो मुख्य आवश्यकताएँ होती हैं – शरीर के पोषण हेतु भोजन-पानी और मन के पोषण हेतु सुख-शांति। वैसे तुम किसी भी वस्तु से आसक्त होकर उसकी लालसा कर सकते हो, पर वह लालसा आत्म-रक्षा की लालसा से भिन्न होगी। संसार में मनुष्य शारीरिक और मानसिक आहार के बिना नहीं जी सकता। इसलिए अहंकार की प्रथम प्रतिक्रिया है आहार। तुम्हारे शरीर का पोषण हो, मन का पोषण हो, सुखी बनो और जानो कि 'यह' तुम हो – ऐसी स्थिति में ही तुम सुखी, स्वस्थ, विश्रान्त और संतुष्ट होते हो।

चित्त – महत् का दूसरा आयाम है चित्त। यह मन का वह गहन क्षेत्र है जहाँ अतीत के संस्कार संचित हैं। चेतना का विकास अनवरत रूप से चलता रहता है। तुम्हें वर्षों पुरानी या अपने बचपन की घटनाएँ भी याद रहती हैं। अपने जीवन की प्रत्येक अवस्था में तुम स्मृतियाँ एकत्र करते जाते हो, जो तुम्हारे मस्तिष्क रूपी कम्प्यूटर की 'हार्ड डिस्क' में संचित होती जाती हैं। कभी इन स्मृतियों तक सरलता से पहुँचा जा सकता है तो कभी बहुत खोजने के बाद, क्योंकि तुम उन स्मृतियों का उपयोग अक्सर नहीं करते। जब चेतना पर पड़े प्रभाव देर तक कायम रहते हैं, तब वे कालान्तर में संस्कार और कर्म बन जाते हैं। भूतकाल की स्मृतियाँ भविष्य में कर्म या संस्कार रूप में प्रकट होती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर मूल प्रवृत्तियाँ अहंकार का परिणाम हैं, दूसरी ओर कर्म, संस्कार और वासनाएँ चित्त का परिणाम हैं।

बुद्धि – यह महत् का तीसरा पक्ष है, जो मनुष्य को उसके वातावरण से जोड़ता है। पहले वातावरण की पहचान होती है, उसके बाद उसे स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है। यहाँ बुद्धि का तात्पर्य उस आधारभूत क्षमता से है जो प्राणी का वातावरण से तादात्म्य स्थापित करती है, इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों के बीच तादात्म्य स्थापित करती है, मन और संसार के बीच सम्बन्ध जोड़ती है। बुद्धि की यही मुख्य भूमिका है।

मान लो तुम माइक्रोफोन जैसी किसी वस्तु का स्पर्श करते हो। तुम्हारी व्यक्तिगत इन्द्रियाँ एक बाह्य वस्तु के सम्पर्क में आ जाती हैं। बुद्धि ही उस वस्तु का विशलेषण करके निर्णय लेती है कि वह वस्तु कठोर है या कोमल, शीतल है या गर्म, बड़ी है या छोटी। हर विषय-वस्तु का ऐसा ज्ञान बुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है। किसी वस्तु को देखने पर भी यही प्रक्रिया होती है। अगर तुम किसी व्यक्ति को देखो और उस समय वहाँ बुद्धि न रहे तो तुम्हें मालूम ही नहीं चलेगा कि तुम किसी व्यक्ति को देख रहे थे या खाली दीवार को। बुद्धि के कारण ही तुम जिस वस्तु को देख रहे हो उसे एक व्यक्ति के रूप में पहचान पाते हो। इन्द्रियों का मार्गदर्शन बुद्धि द्वारा ही होता है। जब इन्द्रियाँ और बुद्धि साथ आती हैं तभी बाह्य जगत् का ज्ञान होता है।

मनस् – मनस् महत् का चौथा घटक है। इसकी भूमिका सीमित होती है, क्योंकि यह अहंकार, चित्त और बुद्धि के संदेशों और निर्देशों के बिना नहीं रह सकता। मनस् इन तीनों द्वारा प्रेषित संदेशों पर मनन करता है। इसके परे इसकी कोई भूमिका नहीं। उन्हीं चीजों पर चिन्तन-मनन किया जाता है जो अहंकार, बुद्धि और चित्त के कारण मनस्-क्षेत्र में प्रकट होती हैं। जब तुम सोचते हो, तो किस चीज के बारे में सोचते हो? वह विचार कहाँ से आया है? वह विचार या तो अहंकार से, या बुद्धि से या चित्त से आया है और उसी पर तुम मनन कर रहे हो।

अगर कोई व्यक्ति तुम्हें हानि पहुँचाता है, तो अहंकार ही तुमसे कहता है कि इस व्यक्ति ने तुम्हें हानि पहुँचाई है और तुम्हें प्रतिक्रिया करनी है। अहंकार से मिले संदेश के कारण ही मनस् उस हानि और उसकी उपयुक्त प्रतिक्रिया के बारे में सोचता है। रुपये-पैसे के फेर में लगे व्यक्ति के मनस् में संदेश बुद्धि से आयेगा और तत्पश्चात् मनस् उस पर सोचेगा। इसी प्रकार चित्त एक पुरानी स्मृति लाकर आपके समक्ष रख सकता है और फिर मनस् उसी के विषय में

सोचना प्रारम्भ कर देगा। इस तरह मनस् उन्हीं गतिविधियों को अभिव्यक्त करता है जो अहंकार, बुद्धि और चित्त के क्षेत्र में घटती हैं। मनस् की यह अवधारणा प्रचलित सिद्धान्त से थोड़ी भिन्न है।

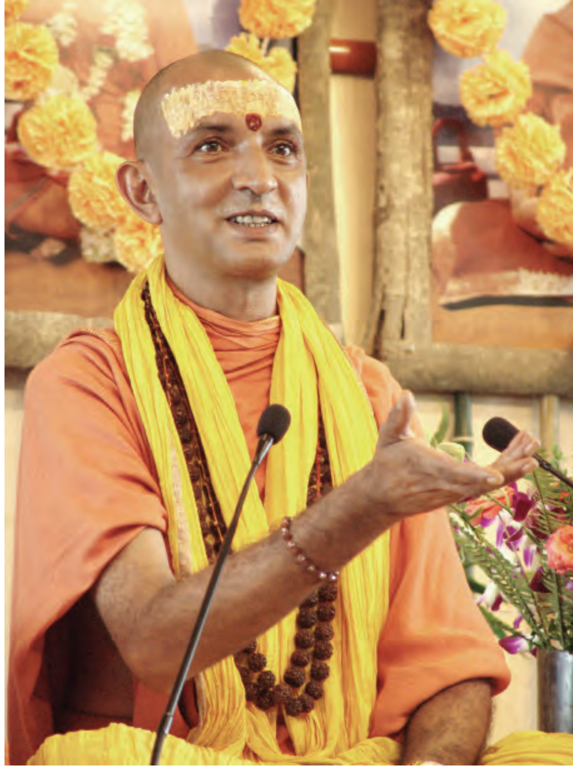
निम्नतर और उच्चतर मन

शिव तत्त्व में अहंकार, बुद्धि, चित्त और मनस्, ये चार क्षमताएँ सन्निहित हैं। जब ये क्षमताएँ सांसारिक विषय-वस्तुओं से सम्बन्धित होती हैं, तब संयुक्त रूप से निम्नतर मन कहलाती हैं। जब ये इन्द्रिय-विषयों के बन्धन से मुक्त हो जाती हैं तो उच्चतर मन बन जाती हैं।

यह एक कमरे में बन्द होने के समान है। जब तुम कमरे की चार दीवारों तक सीमित हो जाते हो, तब केवल कमरे का ही प्रत्यक्ष ज्ञान रह जाता है। बाहर क्या हो रहा है, इसकी जानकारी नहीं होती। जब तुम कमरे से निकलकर बाहर आते हो तब उन्हीं इन्द्रियों और मन का उपयोग करते हो पर अब तुम्हारी दृष्टि, जानकारी और समझ बदल जाती है। सीमित और मुक्त, इन दोनों अवस्थाओं में मन और इन्द्रियों का व्यवहार भिन्न होता है। सीमित अवस्था निम्नतर मन और मुक्त अवस्था उच्चतर मन की सूचक है।

इन्द्रिय-विषयों से सम्बन्ध

एक बिन्दु पर आकर इन्द्रियाँ और उनके विषय परस्पर मिलते हैं। इस स्वाभाविक आकर्षण से मन की प्रकृति बदल जाती है। मन में एक इच्छा उत्पन्न होती है – 'मैं इस वस्तु को चाहता हूँ।' अगर उस वस्तु का तुम्हारे मन पर कोई प्रभाव न पड़ता, तो तुम्हारे मन की स्थिति नहीं बदलती। तुम कहते, 'मुझे इसकी जरूरत नहीं।' लेकिन जब वह वस्तु मन की प्रकृति को बदलती है, तब तुम उस वस्तु को चाहने लगते हो। उदाहरण के लिए, फूलदान में रखे एक सुन्दर फूल पर तुम्हारी दृष्टि जाती है और तुम्हारे मन में विचार आता है, 'क्यों न मैं इसे अपने साथ ले चलूँ?' यह साधारण-सा विचार दर्शाता है कि उस वस्तु ने किसी तरह तुम्हारे मन को प्रभावित कर दिया है। अगर वह फूल तुम्हें आकर्षक नहीं लगता तो वह वहीं पड़ा रहता और तुम उसकी ओर पलटकर भी नहीं देखते। लेकिन तुमने उसकी ओर देखा और एक सम्बन्ध, एक इच्छा उत्पन्न हो गई। इच्छा इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क के कारण ही उत्पन्न होती है।



श्रीकृष्ण भगवद्गीता में कहते हैं –

ध्यायतो विषयान्पुंस: संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते॥ 2.62॥
क्रोधाद्भवति सम्मोह: सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम:।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ 2.63॥

संगात् संजायते काम: अर्थात् इन्द्रिय विषयों से सम्बन्ध स्थापित होने पर मन में इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा क्रमश: आसक्ति बन जाती है। इच्छा के दो स्वरूप होते हैं। एक होती है साधारण-सी कामना, 'अगर यह वस्तु मेरे पास होती तो अच्छा होता।' पर जब इच्छा तीव्र और गहरी होकर लालसा का रूप ले लेती है, तब आसक्ति उत्पन्न होती है। दिन-रात तुम उसी वस्तु के विषय में सोचते रहते हो जो तुम्हारे मन का एक अभिन्न हिस्सा बन

गया है। जब इष्ट वस्तु प्राप्य नहीं होती लेकिन फिर भी तुम उसे हर कीमत पर पाना चाहते हो, तब तुम अधीर और आक्रमक बन जाते हो – *कामात् क्रोधोऽभिजायते*। जब तुम क्रोध के आवेश में आ जाते हो तब मन सम्मोहित हो जाता है – *क्रोधात् भवति सम्मोह:*। कामना अधिकाधिक प्रबल होती जाती है और तुम मानसिक स्पष्टता खो देते हो। यह मन की सम्मोहित अवस्था है, जिसमें मन किसी एक विचार, घटना या वस्तु से प्रभावित हो गया है, एक वासना से अभिभूत हो गया है। *सम्मोहात् स्मृति विभ्रम:* – जब मन इस प्रकार सम्मोहित हो जाता है, तब बुद्धिमानी और समझदारी नहीं रहती और यथार्थता से सम्पर्क टूट जाता है। तुम भ्रान्ति की दुनिया में जीने लगते हो। यही बुद्धिनाश है – *स्मृति भ्रंशात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति*।

इन्द्रिय-विषयों से सम्पर्क ही इच्छा के रूप में प्रारम्भ होकर अन्तत: आसक्ति बन जाता है, जिसके कारण तुम्हारी मानसिकता पूरी तरह भ्रमित हो जाती है और तुम अपनी विवेक-शक्ति खो देते हो। तुम शारीरिक आकर्षण और वासना को ही प्रेम के रूप में देखने लगते हो जबकि वे ऐसे हैं नहीं। कामुकता को प्रेम समझ बैठते हो यद्यपि वह ऐसा है नहीं। अगर तुम किसी व्यक्ति से कहते हो कि तुम उससे प्रेम करते हो, तो उस व्यक्ति में किस चीज से प्रेम करते हो? उस व्यक्ति का स्वभाव या चरित्र तो तुम जानते नहीं, तब फिर उस व्यक्ति में किस चीज से प्रेम करते हो? तुम केवल उस व्यक्ति के शरीर और सौन्दर्य से प्रेम करते हो, वही तुम्हारी लालसा बन जाती है। शादी के बाद जब अन्य पक्ष उजागर होते हैं तब तलाक की नौबत आ जाती है। शादी के पहले ही अगर तुम्हें यह मालूम हो जाता तो शायद तुम उस व्यक्ति से शादी ही नहीं करते। लोग प्रेम की वास्तविक गहराई तक पहुँचे ही नहीं हैं, उसकी वास्तविक प्रकृति समझे ही नहीं हैं। उनका अनुभव केवल शारीरिक प्रेम और वासना तक सीमित रहा है, और उसे ही उन्होंने प्रेम का चरम स्तर मान लिया है।

प्रेम एक ऐसी चीज है जिसका अनुभव तुमने जीवन में कभी किया ही नहीं। तुमने सिर्फ शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक आकर्षण का अनुभव किया है, प्रेम का नहीं। तुम इन सब भावनाओं को प्रेम समझने की भूल करते हो। समझ और सहानुभूति प्राप्त किये बिना प्रेम का अनुभव हो ही नहीं सकता। पहले समझ आनी है, उसके बाद प्रेम।

प्रेम के सम्बन्ध में तुम्हारी अवधारणाएँ केवल मानसिक विचार हैं जो बाह्य विषयों के सन्दर्भ में तुम्हारे मन में उत्पन्न हुए हैं। तुम्हारा पति या पत्नी

तुम्हारे लिए मात्र इन्द्रिय-विषय है, और कुछ नहीं। यही सारी समस्या की जड़ है। इस भौतिक जगत् में जीते हुए, अपने चारों ओर विद्यमान सभी चीजों को देखते हुए स्वाभाविक रूप से उन्हें पाने और उपभोग करने की इच्छा उत्पन्न होगी। ऐसी इच्छा प्राय: स्पर्धा, ईर्ष्या और जलन जैसी भावनाओं से प्रेरित होती है। अगर तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी तुमसे बेहतर मोटर-कार ले आता है, तो ईर्ष्यावश तुम उससे भी अच्छे मॉडल पाना चाहोगे। उसे पाने की इच्छा तुम्हारी जरूरत बन जाएगी। जबकि देखा जाए तो वह तुम्हारी जरूरत है नहीं, वह इच्छा सिर्फ तुम्हारी ईर्ष्या के कारण उत्पन्न हुई है।

ईर्ष्या और जलन के कारण तुम लोग एक-दूसरे से तुलना करने लगते हो, 'उसके पास जो है, वह मेरे पास क्यों नहीं?' इन क्षुद्र भावनाओं के कारण तुम्हारी दृष्टि केवल बाहरी चीजों तक सीमित हो जाती है। कौन जाने, आन्तरिक रूप से तुम अपने प्रतिद्वन्द्वी से कहीं बेहतर निकलो! लेकिन तुम्हारा ध्यान उस ओर नहीं जाता। तुम उन वस्त्रों को देखते हो जो दूसरों ने पहने हैं और उनसे अच्छे वस्त्र पहनने की इच्छा से जुड़ जाते हो। तुम उस भोजन को देखते हो जो दूसरा व्यक्ति खा रहा है और उससे बढ़िया भोजन करने की इच्छा करने लगते हो। तुम केवल बाहर-ही-बाहर देखते हो, तुम यह नहीं देखते कि अन्दर से तुम कहीं अच्छे हो। ईर्ष्या, डाह और लोभ जैसी संकीर्ण भावनाएँ अनेक प्रकार की सूक्ष्म आसक्तियाँ उत्पन्न करती हैं, जिन्हें तुम प्राय: समझ नहीं पाते।

मन की गहराइयों में उतरना

महत् के सूक्ष्म व्यवहारों को समझने के लिए तुम्हें आत्म-विश्लेषण, चिन्तन और ध्यान का आश्रय लेना होगा। वैसा वाला ध्यान नहीं जो सामान्य रूप से जाना जाता है बल्कि योग सूत्रों में महर्षि पतंजलि द्वारा निरूपित ध्यान का क्रम। उनके अनुसार यह क्रम प्रत्याहार के अभ्यास से प्रारम्भ होता है, ध्यान से नहीं। केवल आँखें बन्द कर लेना ध्यान नहीं है, बल्कि इसे अपने आन्तरिक सौंदर्य का साक्षात्कार कराने वाले साधन के रूप में समझना चाहिए। प्रत्याहार और धारणा के क्रमिक अभ्यासों द्वारा ही व्यक्ति धीरे-धीरे मन की गहराइयों में उतर सकता है और पता लगा सकता है कि कहाँ वह सकारात्मक रूप से जुड़ा है और कहाँ नकारात्मक रूप से। यदि कोई सम्बन्ध नकारात्मक है तो उसे बदलने का प्रयास करे और सकारात्मक है तो उसकी वृद्धि करे। यह



समझ और ज्ञान तब मिलता है, जब तुम प्रत्याहार के अभ्यास से अपनी सभी मानसिक गतिविधियों को देख-समझ लेते हो, मन के अनजान आयामों का अवलोकन कर लेते हो और अपनी मानसिक प्रक्रियाओं को नियंत्रित और निर्देशित करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हो।

अपने विचारों को एक मिनट के लिए रोक कर देखो। साठ सेकेण्ड के लिए विचारशून्य हो जाओ। ऐसा सचमुच कर सकते हो क्या? नहीं। तब कैसे कह सकते हो कि तुम ध्यान के अनुभवी अभ्यासी हो। अगर तुमने प्रत्याहार को सिद्ध कर लिया है, तब तुम अपने विचारों को रोक सकते हो। साठ सेकेण्ड तो क्या, साठ दिनों तक भी। एकाग्रता या धारणा ध्यान का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण है। यदि तुम्हें आधे घण्टे तक आँखें बन्द कर बैठने को कहा जाए तो दस मिनट बाद ही झपकियाँ लेने लगोगे। तुम सो जाओगे और बाद में कहोगे, 'वाह! आज कितना बढ़िया ध्यान लगा!' तुम्हारे लिए नींद ही ध्यान बन जाती है। लोगों को तो सत्संग में भी अपनी आँखें खुली रखने में दिक्कत होती है, और वे ध्यान में सजग और सतर्क रहना चाहते हैं! यह असम्भव है। जिनका अपने मन पर नियंत्रण नहीं, वे ध्यान का अभ्यास बिल्कुल नहीं कर सकते।

जिन्होंने प्रत्याहार और धारणा सिद्ध कर लिया है, उन्हें अगर छः घण्टे ध्यान करने को कहा जाए तो यकीन मानो, वे एक सेकेण्ड के लिए भी झपकी नहीं लेंगे और उनकी सजगता प्रारम्भ से अन्त तक एक-समान बनी रहेगी। उसमें कोई विक्षेप या अस्त-व्यस्तता नहीं होगी। अगर तुम ऐसा कर सकते हो तभी ध्यान के अभ्यासी कहलाने लायक हो। तभी ध्यान तुम्हारे लिए सार्थक होगा। लेकिन अगर केवल आँखें बन्द करके अपने आपको खोने के लिए ध्यान का अभ्यास करना चाहते हो तो वह निरर्थक और निष्प्रयोजन है। अधिकांश लोगों का अपने मन पर कोई नियंत्रण नहीं होता। जिसे वे ध्यान कहते हैं वह चित्तवृत्तियों के आवेग में डोलती मनोवस्थाओं के सिवा और कुछ नहीं होता।

प्रत्याहार और धारणा के क्रम में जब तुम यह भली-भाँति जान लेते हो कि अहंकार, चित्त, बुद्धि एवं मनस् की प्रकृति और अभिव्यक्ति को समझना और रूपान्तरित करना है, तब तुम मन की एक उच्चतर अवस्था में प्रवेश करने का प्रयास करते हो। यही अवस्था ध्यान है। तब जाकर ध्यान तुम्हारे लिए प्रासंगिक होता है। नहीं तो बेहतर होगा कि तुम प्रत्याहार और धारणा पर ही टिके रहो।

महर्षि पतंजलि यह तथ्य भली-भाँति जानते थे। इसीलिए उन्होंने प्रत्याहार और धारणा पर जोर दिया। प्रत्याहार का अभिप्राय है, इन्द्रियों को उनके विषयों से वापस लाना। मनोनियंत्रण के क्रम में महर्षि पतंजलि ने प्रत्याहार और धारणा को ध्यान से पहले रखा। उनकी दृष्टि में अगर केवल ध्यान महत्त्वपूर्ण होता तो वे प्रत्याहार और धारणा की उपेक्षा कर देते और अष्टांग योग के बदले षडंग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान और समाधि) का ही प्रचलन होता। लेकिन उन्होंने मन को उसके विषयों से अलग करने के महत्त्व को समझा। वे जानते थे कि इससे मन अपनी नकारात्मक वृत्तियों और अभिव्यक्तियों से मुक्त हो सकेगा, जिसके बाद सकारात्मक गुणों का विकास सम्भव हो सकेगा। इसीलिए मन के प्रबन्धन में प्रत्याहार और धारणा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

तनाव-मुक्ति, साक्षी भाव और जीवन में सामंजस्य

मन की प्रतिभाओं को किस प्रकार विकसित किया जा सकता है? सबसे पहले अपने आपको तनावों से मुक्त करो। अगर तुम तनावग्रस्त हो तो तुम अपने भीतर

कोई प्रतिभा नहीं विकसित कर सकते। इसलिए तनाव-मुक्ति आवश्यक है। तनावों से मुक्त होने के बाद अपने व्यवहारों और प्रतिक्रियाओं का अवलोकन करने और उनमें संतुलन और सामंजस्य लाने की प्रक्रिया प्रारम्भ करो।

प्रत्याहार के प्रथम अभ्यास, 'योग निद्रा' द्वारा तनावों से छुटकारा मिलता है। उसके पश्चात् आता है अपने व्यवहारों और प्रतिक्रियाओं का अवलोकन एवं विश्लेषण। इसके लिए रात में सोने से पहले अपने पूरे दिन का अवलोकन करो। दिन भर जो कुछ तुमने किया है, जो कुछ हुआ है, उसे पाँच मिनट के लिए अपने मानस-पटल पर फिल्म की तरह चलने दो। 'मैं इतने बजे जगा, उसके बाद यह किया, वह किया, इस आदमी से बातें की, दिन बढ़िया रहा या बुरा रहा ...' अगर दिन बुरा रहा तो स्वयं से पूछो, 'क्यों बुरा रहा? क्या मेरी मनोवृत्ति नकारात्मक थी? क्या दूसरा व्यक्ति आक्रामक था?' तुम्हें सभी चीजें देखनी हैं। सभी चीजें स्वीकार लेने के पश्चात् अपने से पूछो, 'अगर कल भी ऐसी ही परिस्थिति का सामना हो तो मैं अपनी प्रतिक्रिया को कैसे सुधार सकता हूँ?' इसे पता लगाने का प्रयास करो। यह मत कहो, 'मैं नहीं सोच सकता।' अगर तुम सोच नहीं सकते तो इसका मतलब है तुम्हारे पास बुद्धि नहीं। ईश्वर ने प्रत्येक व्यक्ति को बुद्धि प्रदान की है, लेकिन तुम समस्या से इतना तादात्म्य स्थापित कर लेते हो कि समाधान देख नहीं पाते। जीवन का स्वभाव ही कुछ ऐसा है। जीवन तुम्हें कहीं पर अटकाता नहीं, तुम स्वयं ही अपने को अटकाये रखते हो।

मुझे अपने जीवन में कोई समस्या नहीं रही, क्योंकि जब भी कोई समस्या आती तब उसका समाधान भी आ जाता था। मैंने अपने गुरु से कभी नहीं पूछा, 'मुझे अमुक समस्या है, इसका समाधान क्या है?' मैंने उनसे कभी नहीं पूछा, 'मुझे घुटने में दर्द है, इसके लिए क्या करूँ? मुझे अमुक अनुभव हो रहा है, यह अच्छा है या बुरा? आज मैंने ध्यान में परियों और फरिश्तों को देखा, डरावने चेहरों को देखा। मैं क्या करूँ?' ऐसी बातें मैंने अपने गुरु से कभी नहीं कीं, क्योंकि उन्होंने मुझे अलग प्रकार का प्रशिक्षण दिया है – 'अगर तुम्हारी कोई समस्या है तो स्वयं उसका समाधान खोजो।' मैं अपने जीवन में इसी सूत्र का प्रयोग करता हूँ। इसलिए जब लोग कोई समस्या लेकर मेरे पास आते हैं तब मैं उनसे प्राय: यही कहता हूँ, 'मुझे अपनी समस्या मत बताओ। यह बतलाओ कि उसका समाधान क्या है। अपनी बिगड़ी परिस्थिति का इलाज तो खुद ही करना पड़ेगा। मैं तो केवल

















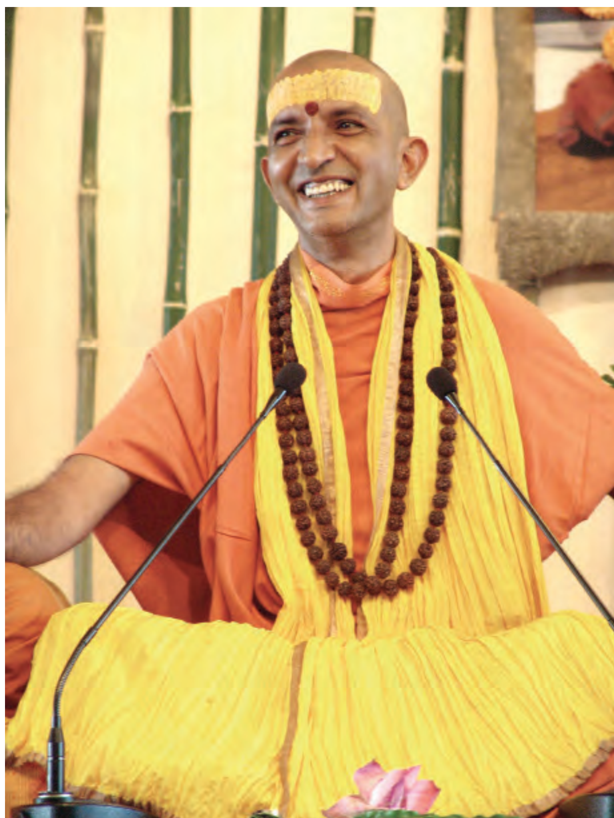
परामर्श दे सकता हूँ। अगर तुम बहुत ज्यादा सोचते हो, तो ज्यादा मत सोचो। अगर उदास हो, तो कीर्त्तन करो, नाचो, कूदो, प्रसन्न रहो। अगर अहंकारवश किसी से अनबन हो गई है तो जाकर उससे हाथ मिला लो।' मैं तो केवल सलाह दे सकता हूँ। अपने जीवन में तालमेल तो तुम्हें खुद बिठाना है। अगर ऐसा कर पाते हो तो कठिन परिस्थिति से बाहर निकल आओगे, और अगर ऐसा नहीं कर सकते, तो छोटी समस्या भी बड़ी हो जायेगी, तिल से ताड़ बन जायेगा।

योग द्वारा जीवन का सम्पोषण

भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में अपनी प्रतिक्रियाओं को समझो और स्वीकार करो। स्वयं को तनावों से मुक्त रखो, दिनभर की घटनाओं और गतिविधियों का अवलोकन करो। मन की समस्याओं को सम्हालने की शुरूआत यहीं से होती है। अगर तुम ये दो चीजें कर सकते हो, तो मैं आश्वासन दे सकता हूँ कि तुम्हारी साठ प्रतिशत मानसिक समस्याएँ अपने आप सुलझ जाएँगी। लेकिन ये अभ्यास नियम और श्रद्धा के साथ करने होंगे।



जब तुम्हें बुखार या अन्य कोई रोग होता है तब डॉक्टर कुछ दिनों के लिए एन्टीबायोटिक दवाएँ देता है। दवा लेने के क्रम को तुम्हें निश्चित दिनों तक पूरा करना होता है। तुम बीच में ही दवा नहीं छोड़ सकते। यही सिद्धान्त योगाभ्यास पर भी लागू होता है। तुम सबेरे जग नहीं सके या थोड़ा आलस लग रहा है तो कह देते हो, 'आज मैं योगाभ्यास नहीं करूँगा।' इसका तात्पर्य यह कि तुम आज की एन्टीबायोटिक दवा नहीं ले रहे हो। वैसे देखा जाए तो योग एन्टीबायोटिक नहीं, 'प्रो-बायोटिक' है, जीवन का पोषक तत्त्व है। अगर तुम एन्टीबायोटिक दवा को निश्चित दिनों तक ले सकते हो, तो अपनी प्रो-बायोटिक दवा अर्थात् योग का भी उसी नियमितता से सेवन क्यों नहीं कर सकते? बुद्धि, भावना और कर्म को सम्हालने और सुधारने की यात्रा यहीं से प्रारम्भ होती है।



मन का प्रबंधन, हृदय की शल्यक्रिया

11 अक्टूबर 2010

मनस्, बुद्धि, चित्त और अहंकार – मन के इन चार आयामों को सुव्यवस्थित करने के लिए योग के विभिन्न अभ्यासों का सहारा लेना पड़ता है।

महत् की मौलिक संरचना

जब तुम कोई कम्प्यूटर खरीदते हो, वह 'प्री-लोडेड सॉफ्टवेयर' के साथ आता है, जिसे 'ऑपरेटिंग सिस्टम' कहते हैं। उस ऑपरेटिंग सिस्टम में अपनी आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न सॉफ्टवेयर जोड़े जा सकते हैं। उसी प्रकार महत्, जिसमें अहंकार, बुद्धि, चित्त और मनस् सम्मिलित हैं, कुछ प्री-लोडेड सॉफ्टवेयर के साथ आता है।

अहंकार में जो आधारभूत सॉफ्टवेयर है, वह आहार, निद्रा, भय और मैथुन – इन चार मूल-प्रवृत्तियों का है। इन मूल-प्रवृत्तियों का स्रोत अहंकार ही है और ये प्रवृत्तियाँ जीवन को सुरक्षित और पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रखने की आवश्यकता को दर्शाती हैं। जीवन को कायम रखना हम सब में निहित मौलिक प्रवृत्ति है।

मूल-प्रवृत्तियाँ मन के व्यवहार को प्रभावित करती हैं। आहार, निद्रा, भय या मैथुन – इनमें से किसी एक के प्रबल होने पर मन और इन्द्रियों का सामान्य व्यवहार, जीवन की समस्त प्रक्रियाएँ प्रभावित हो जाती हैं, जिससे मन में अनावश्यक तनाव उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार, बुद्धि की क्षमताओं को सीमित करने वाला प्री-लोडेड सॉफ्टवेयर है आसक्ति। बुद्धि के माध्यम से ही तुम इन्द्रिय-विषयों से जुड़ते

हो। बुद्धि ही कहती है, 'यह वस्तु सुखदायक है, इसे स्वीकार करो, इसकी इच्छा करो, इसकी आकांक्षा करो; वह वस्तु सुखदायक नहीं है, उसे अस्वीकार करो, उसे हटाओ, उससे दूर रहो।' बुद्धि बाह्य वातावरण और संसार से सम्बन्ध बनाने का साधन है। आसक्ति का कारण बुद्धि है, अहंकार नहीं। यह बुद्धि का नकारात्मक पक्ष है, जो हमें सीमित और प्रतिबन्धित कर देता है।

शक्ति की भूमिका

महत् के चारों पक्षों के नकारात्मक और सकारात्मक, दोनों तरह के पहलू होते हैं, क्योंकि वस्तुत: वे सभी आद्याशक्ति के स्वरूप हैं। और उस आद्याशक्ति की दो भूमिकाएँ होती हैं–पहली है जोड़ना और दूसरी पृथक् करना। इसी वजह से शक्ति को योगमाया भी कहा जाता है।

भौतिक जगत् में शक्ति जीव को उसके स्रोत से अलग करने का काम करती है। इसलिए स्रोत की ओर वापस आने के लिए जीव को पुरुषार्थ करना पड़ता है, शक्ति के विपरीत चलना होता है, नदी के प्रवाह के विरुद्ध तैरना होता है। प्रकृति या माया के रूप में शक्ति तुम्हें भौतिक संसार की ओर ले जाती है। शक्ति तुमसे कहती है–'अपने संसार से सम्बन्ध बनाओ, उसी के साथ एकरूप हो जाओ।' वह तुम्हारी इन्द्रियों, विचारों, भावनाओं और इच्छाओं को संसार से जोड़कर सांसारिक वस्तुओं में ही तुष्टि प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। यही शक्ति का बन्धनकारी पक्ष है। वह तुम्हें भौतिक आयाम की ओर धकेलकर भौतिक धरातल से बाँधती है।

शक्ति का दूसरा पक्ष संयोजन का है। इस रूप में शक्ति तुम्हें भौतिक जगत् से वापस खींचकर आध्यात्मिक जगत् से जोड़ती है। आध्यात्मिक जगत् से नाता जोड़ने, वहाँ स्थापित होने को ही योग कहा गया है। माया से योग की ओर जाने के लिए तुम्हें पुरुषार्थ करना होगा। योग की स्थिति तक पहुँचने के लिए माया के विरुद्ध संघर्ष करना होगा। यही संघर्ष आध्यात्मिक साधक के जीवन को बनाता या बिगाड़ता है।

विकास का क्रमबद्ध मार्ग

अगर तुम अपने जीवन को सँवारना चाहते हो तो तुम्हें एक क्रम और एक पद्धति का अनुसरण करना होगा। और अगर अपने जीवन को बिगाड़ना चाहते हो, तो फिर कहीं भी कूद पड़ो। बिना किसी तैयारी के क्रिया योग का



अभ्यास शुरू करो, बिना उचित मार्गदर्शन के कुण्डलिनी जगाओ, और अन्त में सीधे पागलखाने पहुँच जाओ। लेकिन अगर तुमने समुचित तैयारी की है तो ये अभ्यास तुम्हारा जीवन बिगाड़ेंगे नहीं, सुधारेंगे।

योग में क्रमानुसार अभ्यास बहुत महत्त्व रखता है। इस बात को आम लोग समझते नहीं। बिना किसी बुनियादी तैयारी के वे सीधे उच्च साधना में जाना चाहते हैं। जिन साधकों ने योग के चरणों का क्रमिक रूप से अनुसरण किया है, वही जीवन में कुछ बन पाये हैं, अपने जीवनकाल में सिद्ध बने हैं। लेकिन जो अपने मन का स्वभाव समझे बगैर नयी अनुभूतियों की खोज में सदा छलांग लगाते रहे हैं, वे आज भी एक जगह से दूसरी जगह छलांग ही लगा रहे हैं, अभी तक स्थिर आधार नहीं पा सके हैं। यही सच्चाई है। क्रिया योग और कुण्डलिनी योग पर जगह-जगह अनेक सत्र चलते हैं, और ढेरों

लोग अपनी कुण्डलिनी जगाने के लिए उनमें भाग लेने आते हैं। लेकिन मन और हृदय को व्यवस्थित किये बिना कुण्डलिनी का जागरण पागलपन की ओर ही ले जाएगा।

दुनियाभर में हुए अनुसंधानों ने यह स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी तुम्हें साइकोसिस जैसी विकृत मनोदशा तक भी ले जा सकती है और चेतना की उच्चतम अनुभूति तक भी। कुण्डलिनी का नकारात्मक पक्ष साइकोसिस की ओर ले जायेगा और सकारात्मक पक्ष प्रबुद्धता की ओर। तुम्हें इस तथ्य की सम्यक् जानकारी होनी चाहिए, इसके बाद ही सांसारिक से आध्यात्मिक जीवन की ओर जाने का प्रयास करना चाहिए। यहीं पर महर्षि पतंजलि के प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। वे महत् के नियंत्रण में बहुत सहायता करते हैं। ध्यान महत्त्वपूर्ण नहीं है, प्रारम्भ में तुम इसकी उपेक्षा कर सकते हो। पहले प्रत्याहार में पारंगत हो जाओ और फिर धारणा की अवस्था की ओर बढ़ो।

योग निद्रा – अन्तर्मुखता का प्रथम अभ्यास

प्रत्याहार की प्रक्रिया में अन्तर्मुखता का जो प्रथम अभ्यास सिखाया जाता है, वह योग निद्रा का है। इस प्रारम्भिक अभ्यास में भी लोग अपनी मनोवस्था पर नियंत्रण नहीं रख पाते। तब फिर कैसे वे ध्यान की उच्चतर अवस्थाओं में प्रवेश कर सकते हैं? प्रशिक्षक निर्देश देता है – 'योग निद्रा के अभ्यास के दौरान सोना नहीं', लेकिन इधर निर्देश का उच्चारण हुआ नहीं कि उधर अभ्यासी खर्राटे लेने लगते हैं!

प्रारम्भिक दिनों में जब मैं योग निद्रा सिखलाता था, तब मैं देखता था कि मेरे निर्देशों के बावजूद मेरे विद्यार्थी अक्सर योग निद्रा के दौरान सो जाते थे। मैंने इसके लिए बहुत-से उपाय आजमाए। एक बार कोलम्बिया में मैंने अपने विद्यार्थियों से कहा, 'आज आप लोग योग निद्रा का अभ्यास खड़े होकर कीजिये।' पर यह बहुत बड़ी भूल साबित हुई। अभ्यास के लिए जो तीस व्यक्ति पंक्ति में खड़े हुए उनमें से अन्तिम व्यक्ति सो गया और सामने की ओर गिर पड़ा। फिर क्या था, एक के बाद एक सभी व्यक्ति गिरते चले गये! मेरी समझ में आ गया कि अधिकांश लोगों का अपनी मनोवस्थाओं पर कोई नियंत्रण नहीं है। अगर कोई व्यक्ति खड़े-खड़े सोने लग सकता है और उसके बाद गिर भी सकता है, तो मैं नहीं समझता कि वह व्यक्ति कभी ध्यान

के अभ्यास में सफल हो सकता है। ऐसे व्यक्ति के लिए इतना ही पर्याप्त है कि वह योग निद्रा के माध्यम से तनाव-मुक्ति प्राप्त करे।

अन्तर्मौन द्वारा मन की गहराइयों में उतरना

योग निद्रा द्वारा तनाव-मुक्ति के बाद, मन के गहन आयामों में उतरने के लिए अन्य विधियों का सहारा लिया जाता है, जिनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है अन्तर्मौन का अभ्यास।

देखा जाए तो मनस् एक तरह से अहंकार, चित्त और बुद्धि के लिए खेल का मैदान है, जहाँ ये तीनों अपने-अपने व्यवहार प्रकट करते हैं। अन्तर्मौन में जब तुम अपनी आन्तरिक अवस्थाओं को देखते हो और वहाँ कोई विचार या अनुभव दिखाई देता है, तब उसे पकड़कर उसकी जड़ तक जाने का प्रयास करते हो। उस विचार को तुम अन्दर ले जाने वाली रस्सी के रूप में उपयोग करते हो। कभी तुम बुद्धि की ओर जाते हो, क्योंकि विचार बुद्धि से आया है। कभी चित्त तक चले जाते हो, क्योंकि अनुभव चित्त से आया है। कभी अहंकार तक पहुँच जाते हो, क्योंकि किसी अहंकार-जनित मूल-प्रवृत्ति ने मनस् को प्रभावित किया है। अन्तर्मौन के दौरान मन में उठ रहे विचारों के अनुसार तुम बुद्धि, चित्त, अहंकार या मनस् तक पहुँच सकते हो। यही क्षमता अन्तर्मौन को एक अत्यन्त प्रभावशाली अभ्यास बना देती है।

प्राय: लोग सोचते हैं कि अन्तर्मौन मात्र आन्तरिक मौन का अभ्यास है जिसमें व्यक्ति चुपचाप अपने विचारों का अवलोकन करता रहता है। लेकिन यह सिर्फ अन्तर्मौन का प्रथम चरण है। तुम लोग प्रथम चरण से आगे नहीं बढ़े पाये हो, इसलिए तुम्हें अगले चरणों के विषय में बताया नहीं गया है। बहुत कम लोग आगे के चरणों में पहुँच पाते हैं, क्योंकि अधिकांश लोग यही समझते हैं कि अन्तर्मौन की साधना 'अपने विचारों को देखो, उन्हें स्वीकार करके उन्हें जाने दो, मन को खाली रखो'– बस यहीं तक सीमित है। इस चरण के आगे कोई बढ़ता ही नहीं। लेकिन अगर इस साधना को समुचित रूप से किया जाए तो यह बुद्धि, चित्त और अहंकार तक पहुँचने की सबसे प्रभावी विधि हो सकती है।

इस तरह मन के एक पक्ष को अन्तर्मौन द्वारा समझा जा सकता है। अभी मैं कुछ ही अभ्यासों की चर्चा कर रहा हूँ जो सरल और सर्वविदित हैं, पर इनका महत्त्व अच्छी तरह समझना होगा।

‘स्वान’ सिद्धान्त द्वारा आसक्तियों का प्रबन्धन



जब बुद्धि किसी वस्तु या व्यक्ति के साथ जुड़कर एक आसक्ति उत्पन्न करती है, उस समय वह एक अन्य भूमिका भी निभाती है। बुद्धि उस वस्तु या व्यक्ति का विश्लेषण करना प्रारम्भ करती है – यह मेरे लिए अच्छा है या बुरा, इसे स्वीकार करना चाहिए या नहीं। इस प्रक्रिया के माध्यम से तुम अपनी आसक्ति को एक पहचान, एक रूप, एक आकृति दे रहे हो। जब आसक्ति प्रगाढ़ हो जाती है, तब उस वस्तु से तुम्हारा तादात्म्य हो जाता है, मानो वह तुम्हारी ही है। ‘यह मेरी चीज है’ – जब ऐसा भाव आ जाता है, तब द्रष्टा भाव बनाये रखना कठिन हो जाता है।

योग का प्रथम निर्देश और नियम है – अपनी सजगता को इस हद तक बढ़ाओ कि तुम अपने बाहर-भीतर होने वाली सभी गतिविधियों के द्रष्टा बन सको। योग सूत्रों में कहा गया है – *तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानम्*। व्यक्ति को मन की ऐसी अवस्था में स्थापित होना है जहाँ उसकी अन्तर्दृष्टि से कुछ भी छिपा न रहे। सभी चीजों का अवलोकन होना है, हर घटना और विचार के प्रति सजग रहना है। यह सजगता सहज और स्वाभाविक होनी चाहिए। तुम्हें अपने आप से बार-बार यह न कहना पड़े कि ‘मुझे सजग रहना है।’ ऐसे चिन्तन से तो तुम्हारे भीतर तनाव ही पैदा होगा। लेकिन जब यह प्रक्रिया सहजता से होती है तब तुम सारा समय द्रष्टा बने रह सकते हो। इसके विपरीत जब तुम अपने आप से संघर्ष कर रहे होते हो, तब चंद क्षणों के लिए ही द्रष्टा भाव का अनुभव होता है।

योग में संघर्ष नहीं, सजगता का विकास किया जाता है। सजगता विकसित होने पर जैसे-जैसे तुम्हारे भीतर आसक्तियाँ उत्पन्न होती जाती हैं, वैसे-वैसे तुम उनका विश्लेषण भी करते जाते हो। ‘मैं अमुक वस्तु की कामना क्यों करता हूँ? क्या यह मेरी आवश्यकता है, या मात्र एक सम्मोहन है? मैं अमुक

व्यक्ति के सान्निध्य में क्यों हूँ?' अस्सी प्रतिशत से अधिक मामलों में तुम पाओगे कि वह आसक्ति तुम्हारी आवश्यकता नहीं, मात्र एक सम्मोहन है, किसी चीज को पाने की स्वार्थभरी कामना।

'स्वान' सिद्धान्त अपने सामर्थ्यों, दुर्बलताओं, महत्त्वाकांक्षाओं और आवश्यकताओं को पहचानने का साधन है। इसके द्वारा अपनी बुद्धि के आयाम का विश्लेषण करो। तुम्हारे अंत:करण में कौन-से सामर्थ्य और कौन-सी दुर्बलताएँ हैं? तुम्हारी महत्त्वाकांक्षाएँ क्या हैं? तुम्हारे जीवन की वास्तविक आवश्यकताएँ क्या हैं? अगर तुम अपनी अपेक्षाओं और इच्छाओं का इन चार श्रेणियों में वर्गीकरण कर सकते हो, अगर तुम अपने सामर्थ्यों, दुर्बलताओं, महत्त्वाकांक्षाओं और आवश्यकताओं के आलोक में अपने आप को समझ सकते हो, तब तुम आसक्तियों के बन्धन से मुक्त हो सकते हो। लोग कहते हैं– 'मुझे अपने आपको विषय-वस्तुओं से दूर करना है।' तुम कैसे दूर हो सकते हो? किसी चीज से दूर भागने की कोई आवश्यकता नहीं। मात्र अपनी आवश्यकताओं और महत्त्वाकांक्षाओं के सन्दर्भ में विषय-वस्तुओं का मूल्यांकन और विश्लेषण करो। अगर किसी चीज से तुम्हारी आसक्ति तुम्हारी आवश्यकता पर आधारित है तो वह उचित है। अगर आसक्ति का कारण तुम्हारी महत्त्वाकांक्षा है तो तुम्हें उस पर दुबारा विचार करना चाहिए, क्योंकि वह तुम्हें संतोष और तृप्ति नहीं प्रदान कर सकती। बल्कि उससे और अधिक महत्त्वाकांक्षाएँ और कामनाएँ ही जन्म लेंगी। स्वान सिद्धान्त द्वारा अपनी सजगता विकसित कर तुम बुद्धि के व्यवहारों को व्यवस्थित करने में सक्षम हो सकते हो।

अजपा-जप द्वारा चित्त में प्रवेश

चित्त संस्कारों और कर्मों का भण्डार-गृह है। अंत:करण के इस आयाम तक पहुँचना सरल नहीं। अपने संस्कारों को जानना-समझना अत्यन्त कठिन है। इस समय हम कौन-से कर्मों को जी रहे हैं, यह जानना बहुत मुश्किल है। यह अनुमान लगाना भी कठिन है कि वर्त्तमान संस्कारों और वासनाओं के आधार पर हमारी भावी अपेक्षाएँ क्या होंगी। चित्त तक पहुँचने के लिए प्रत्याहार और धारणा के एक अन्य अभ्यास, अजपा-जप का उपयोग किया जाता है।

अजपा-जप श्वास की चेतना के साथ मंत्र-जप करने का अभ्यास है। शान्त होकर बैठ जाओ और नाभि से भ्रूमध्य तक चल रही श्वास का अनुभव

करो। जब तुम श्वास लेते हो तब ऐसा अनुभव करो कि श्वास नाभि से भ्रूमध्य तक आ रही है। जब श्वास छोड़ते हो तब उसे भ्रूमध्य से नाभि तक आता अनुभव करो। फिर श्वास की गति के साथ एक मंत्र 'सोऽहं' जोड़ दो। सोऽहं श्वास का बीज मंत्र है।

अजपा-जप का अभ्यास करते-करते तुम्हें झपकियाँ आने लगेंगी, क्योंकि तुम्हारे स्नायविक तनाव समाप्त होते जाएँगे। स्नायविक तनावों के समाप्त होने पर मानसिक तनाव भी कम होते जाएँगे और मन अन्तर्मुखी होता जाएगा। जब मन अन्तर्मुखी हो जाता है तब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध कट जाता है। इन्द्रियों से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर तुम्हें झपकियाँ आने लगती हैं। उस समय जगे रहने के लिए एक ही साधन तुम्हारे पास रह जाता है और वह है, मंत्र की सजगता। पन्द्रह-बीस मिनट तक श्वास के साथ सोऽहं मंत्र जपने से मन एक शांत, निश्चल अवस्था में पहुँच जाता है। इस निश्चल अवस्था में अतीत की स्मृतियाँ और संस्कार मन की सतह पर आने लगते हैं। एक सत्य घटना के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि अजपा-जप कैसे काम करता है।

कई साल पहले दमे से पीड़ित एक व्यक्ति आश्रम आया। अपनी बीमारी से मुक्ति पाने के लिए वह सभी प्रकार की चिकित्सा पद्धतियाँ आजमा चुका था, लेकिन कोई भी दवा या प्रणाली कारगर सिद्ध नहीं हुई थी। उसके दमे के दौरे भी बहुत तीव्र हुआ करते थे। उन दिनों श्री स्वामीजी आश्रम में ही थे। उन्होंने उस नवयुवक से कहा, 'अजपा-जप का अभ्यास शुरू करो, बाकी सारी दवायें छोड़ दो। अगर तुम्हें उन दवाओं से आज तक फायदा नहीं हुआ तो अगले दो-चार सप्ताह में भी कुछ होने वाला नहीं। दवा बन्द करो और अजपा-जप का अभ्यास करो।' उस व्यक्ति ने श्री स्वामीजी के निर्देशानुसार अभ्यास करना शुरू किया, क्योंकि उसे गुरु के शब्दों में श्रद्धा और आस्था थी। दवायें छोड़कर वह अजपा-जप का अभ्यास करने लगा।

लगभग एक महीने बाद उसे ध्यान में अपने बचपन से सम्बन्धित एक घटना दिखाई पड़ी। उस घटना को वह पूरी तरह भूल चुका था लेकिन ध्यान में वह स्मृति सतह पर उभर आई। तत्क्षण वह दमे से मुक्त हो गया। तब से आज तक उस व्यक्ति को दमे का एक भी दौरा नहीं पड़ा। और यह घटना हाल की नहीं, बीस-पचीस साल पहले की है। जब वह व्यक्ति अपने देश लौटा उसने डॉक्टरों से अपनी जाँच करायी, यह जानने के लिए कि वह दमे

से पूर्णतया मुक्त हो गया है या नहीं। जाँच ने स्पष्ट कर दिया कि वह दमे से मुक्त हो गया था।

जहाँ दवा असफल रही, वहाँ ध्यान काम आया। इसका कारण यही है कि ध्यान की प्रक्रिया उस स्मृति को उभारने में सक्षम हुई जो समस्या की जड़ थी। उस स्मृति को, उस स्मृति में निहित व्यथा और पीड़ा को स्वीकार कर लेने के पश्चात् वह व्यक्ति उस स्मृति से उत्पन्न समस्या से मुक्त हो गया।

तुम्हारे व्यवहार और मानसिकता को प्रभावित करने वाली प्रच्छन्न स्मृतियों और संस्कारों को बाहर खींच निकालने के लिए अजपा-जप एक बहुत प्रभावी साधना है। अजपा-जप तुम्हें अपने मन, हृदय और अन्तरात्मा में सम्यक् रूप से स्थापित करता है। वेदों और उपनिषदों में इस साधना की बहुत प्रशंसा की गई है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में इस साधना को प्रमुख स्थान इसलिए दिया गया है कि यह मन में दबे संस्कारों और कर्मों को हटा देने की अपूर्व क्षमता रखती है।



चिदाकाश धारणा द्वारा चेतना के प्रतीकों का ज्ञान

मन के गहन स्तरों को समझने के लिए धारणा का एक अभ्यास भी किया जाना चाहिए। अजपा-जप के माध्यम से जैसे-जैसे तुम मन की गहराइयों में प्रवेश करते हो, वैसे-वैसे वहाँ छिपे संस्कार प्रतीकों के रूप में सतह पर आते हैं। उन प्रतीकों का अर्थ समझने के लिए तुम्हें तत्पर रहना चाहिए।

शब्दों का उपयोग तो अन्य व्यक्तियों से वार्त्तालाप करने के लिए किया जाता है, पर तुम आन्तरिक रूप से कैसे सोचते हो? क्या सोचने के लिए भी शब्दों का उपयोग करते हो? नहीं। जब कोई विचार मनस् के स्तर पर पहुँचता है तभी तुम उसे शब्दों के रूप में अनुभव करते हो। उसके पहले विचारों का स्वरूप शब्दों का नहीं, प्रतीकों का रहता है। चित्त प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट होता है क्योंकि वही चेतना की भाषा है। शब्द और वाक्य इन्द्रियों की भाषा हैं और प्रतीक चेतना की।

प्राय: तुम इन प्रतीकों को उन चीजों से जोड़ देते हो जिन्हें तुम पहले से जानते हो। अगर ध्यान में तुम्हें कोई प्रतीक या दृश्य दिखाई देता है, तो बुद्धि तुरंत सक्रिय हो उठती है और कहती है, 'यह दृश्य मुझे पसन्द है क्योंकि यह बहुत सुन्दर है। इसे देखने से मुझे शान्ति का आभास होता है।' एक बार बुद्धि सक्रिय हो गई तो फिर प्रतीक का प्रभाव क्षीण हो गया। वह केवल एक रूप बनकर रह गया जो तुम्हें पसन्द आया। तुम दूसरा दृश्य देखते हो और बुद्धि कहती है, 'नहीं, मुझे यह दृश्य पसन्द नहीं। यह वीभत्स, भद्दा और नकारात्मक है।' तुम्हारी बुद्धि चित्त से उभरते प्रतीकों को देखने और समझने की प्रक्रिया रोक देती है, और इसीलिए तुम्हारे दबे संस्कारों का निष्कासन नहीं हो पाता।

प्रतीकों की भाषा समझने और उन्हें सतह पर लाने की विधि है – चिदाकाश धारणा। इस अभ्यास के प्रथम चरण में तुम अपने मन में आकृतियों और चित्रों का निर्माण करते हो। इससे प्रतीकों को समझने की क्षमता विकसित होती है। आगे चलकर जब ध्यान में चेतना की गहराइयों से प्रतीक ऊपर आते हैं, तब यह क्षमता काम आती है। चिदाकाश धारणा के अभ्यास में शिक्षक कहेगा, 'अपने मन में एक त्रिभुज की आकृति बनाओ। अब एक और त्रिभुज बनाओ ... एक और ... एक और। अब एक चतुर्भुज बनाओ ... एक और ... एक और। एक वृत्त बनाओ ... एक पंचभुजी सितारा ... एक की संख्या, दो, तीन, चार ...।' इस प्रकार तुम्हें अपने मन में प्रतीक बनाने के क्रम में ले जाया जाता है। जब तुम इस हद तक अपनी सजगता विकसित कर लेते हो कि सभी

स्वनिर्मित प्रतीकों को याद रख सकते हो, तब तुम प्रतीक बनाना बन्द कर देते हो और आन्तरिक प्रतीकों को उभरने देते हो। प्रतीकों के उभरने पर मन के एक स्तर पर तुम समझना प्रारम्भ करते हो कि तुम्हारे लिए उन प्रतीकों का क्या अर्थ है, बशर्ते तुम अपनी बुद्धि को इस प्रक्रिया से अलग रख सको।

एक सुन्दर प्रतिमा का निर्माण

अजपा-जप और चिदाकाश धारणा क्रमश: प्रत्याहार और धारणा के अभ्यास हैं जिनके माध्यम से हम अपने चित्त में प्रवेश करने और उसे समझने में सक्षम होते हैं। स्वान-सिद्धान्त बुद्धि को व्यवस्थित करने का उपाय है, और योग निद्रा एवं अन्तर्मौन अहंकार-प्रबन्धन की विधियाँ हैं।

इन विधियों का यदि नियमित रूप से अभ्यास किया जाए तो ये अनेक लाभ दे सकती हैं। पर यह याद रखना कि इन सब में समय लगता है। इससे पहले कि तुम्हारा मन सांसारिकता से पूरी तरह भर जाए, अपनी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ कर दो। हमेशा याद रखो कि किसी भी निर्माण-कार्य में बहुत अधिक समय लगता है जबकि विनाश-कार्य में बहुत कम।

अगर किसी भवन को नष्ट करना चाहो, एक सप्ताह में वह पूरा धराशायी हो जायेगा, लेकिन अगर उस भवन को बनाना चाहो तो उसमें महीनों लग जायेंगे। आध्यात्मिक जीवन में भी यही सिद्धान्त लागू होता है। अगर अपने अन्दर कुछ सकारात्मक सृजन करना चाहते हो तो इस कार्य के लिए समय दो। तात्कालिक परिणाम की अपेक्षा मत करो। अगर तत्काल परिणाम चाहते हो तो जान लो कि योग और आध्यात्मिक जीवन तुम्हारे लिए नहीं है। जाकर समाज और संसार में आराम से रहो। निर्माण-कार्य सम्पन्न करने के लिए तो तुम्हें समय लगाना होगा। कोई भी चीज बनी-बनायी नहीं आती। अपने समय का नब्बे प्रतिशत हिस्सा सकारात्मक गुणों के अर्जन, विकास और पोषण में लगाओ और बाकी दस प्रतिशत समय उन तत्त्वों और प्रवृत्तियों के उन्मूलन में लगाओ जो हानिकारक, प्रतिबन्धक और अनावश्यक हैं। योगी इसी प्रकार जीते हैं, जबकि भोगी अपना नब्बे प्रतिशत समय विध्वंस और विनाश में लगाते हैं और केवल दस प्रतिशत निर्माण में।

योग में यह स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि योग एक अनुशासन है। यह भोग के लिए किया जाने वाला कोई अभ्यास नहीं, बल्कि एक कठोर और गम्भीर अनुशासन है, और इसे तुम्हें इसी रूप में समझना और स्वीकार करना होगा।

अपनी साधना के विषय में मन-मौजी मत बनो, 'चलो आज मैं यह अभ्यास कर लेता हूँ क्योंकि शरीर को थोड़ा लचीला करने का मन कर रहा है।' थोड़ी फेर-बदल अपनी जगह ठीक है, लेकिन साथ ही अपनी साधना और संकल्प के प्रति गम्भीर और दृढ़संकल्प बनो। एक बेहतर मनुष्य बनने के लिए और अधिक प्रयास करो। यह मत सोचो कि बेहतर बनना सरल है। एक शिल्पकार को भी पहले पत्थर का एक अनगढ़ खण्ड ही मिलता है जिसपर फिर अपनी छेनी-हथौड़े के साथ वह कड़ी मेहनत करता है, जब तक वांछित प्रतिमा तैयार नहीं हो जाती। अगर शिल्पकार छेनी-हथौड़ा छोड़ दे तो वांछित प्रतिमा कभी नहीं उभरेगी, प्रस्तर-खण्ड जैसे का तैसा रह जायेगा। शायद यहाँ-वहाँ एक-आध गड्ढे या खरोंचें दिखाई पड़ें, जहाँ शिल्पकार ने अपनी छेनी आजमायी। यहाँ आने वाले बहुत-से लोगों के चेहरों पर छेनी के निशान मिल जाते हैं, लेकिन किसी ने प्रतिमा को पूरा नहीं होने दिया है। स्वयं को एक सुन्दर प्रतिमा बनने दो, इसके लिए भरसक प्रयास करो। आखिर इस काम के लिए तुम्हें एक ही जीवन तो मिला है।

अदृश्य हृदय

मनुष्य के दो हृदय होते हैं – एक तो शरीर के बायीं ओर स्थित स्थूल हृदय होता है और दूसरा होता है दायीं तरफ। यह आध्यात्मिक हृदय है। बायाँ हृदय



धक्-धक् धड़कते हुए पूरे शरीर में रक्त-संचार करता है, जबकि दायाँ हृदय नि:शब्द रूप से स्पन्दित होता है। दायाँ हृदय किस चीज का संचार करता है? जब यह धड़कता है तब एक अन्य संचरण प्रारम्भ होता है। यह संचरण रक्त का नहीं, भावना का होता है। यही भावना तुम्हें सारे दृश्य और अदृश्य जगत् से जोड़ती है। बायें हृदय की अभिव्यक्ति भौतिक, शारीरिक स्तर पर होती है, जबकि दायें हृदय की अभिव्यक्ति आध्यात्मिक और अलौकिक होती है।

जब तुम अपने प्रेमी को देखते हो तब बायाँ हृदय धड़कने लगता है और जब तुम अपने इष्ट, अपने भगवान को देखते हो तब दायाँ हृदय धड़कने लगता है। जब अपने प्रेमी को देखते हो तब बायाँ हृदय कहता है, 'मैं इस व्यक्ति से प्रेम करता हूँ।' जब अपने प्रभु को देखते हो तब दायाँ हृदय कहता है, 'मैं और मेरा प्रभु एक हैं।' बायाँ हृदय हमेशा 'मैं और वह' का द्वैत भाव पैदा करता है, जबकि दायाँ हृदय सदा सायुज्य की स्थिति में रहता है। यही दायें हृदय का मौलिक स्वभाव है। भले ही इस हृदय का शारीरिक अस्तित्व नहीं, लेकिन इस दृष्टान्त का उपयोग हृदय के विभिन्न गुणों को स्पष्ट करने के लिए किया जा रहा है। एक शारीरिक अंग है और दूसरा है हृदय का वास्तविक ऊर्जात्मक स्वरूप।

भाव अदृश्य हृदय का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है। जब आपका किसी सुन्दर, आनन्ददायक, अनुपम, दिव्य अनुभव से साक्षात्कार होता है तब उस समय जो भाव जागता है वह अदृश्य हृदय की ही धड़कन है। ये भाव क्या हैं, इनका स्वरूप क्या है? भाव तुम्हारी मनोदशा के प्रतीक हैं। प्रेम, करुणा, स्नेह, क्रोध, द्वेष – ये सभी हृदय के भाव हैं जो मन के व्यवहार को बदल देते हैं।

हृदय की शल्य-क्रिया

भारतीय परम्परा में नौ मुख्य भावों का उल्लेख है, जो नौ मुख्य मनोदशाओं को दर्शाते हैं। ये मनोदशाएँ बुद्धि, चित्त या अहंकार द्वारा नहीं, बल्कि हृदय में उत्पन्न भावनाओं द्वारा निर्देशित होती हैं। अब यह कैसे जाना जाए कि हमारी भावनाएँ उचित हैं या अनुचित? किसी भावना की गुणवत्ता जानने की कसौटी यही है कि उसमें सौंदर्य और प्रेम है या नहीं। सौंदर्य और प्रेम से विहीन भावना नकारात्मक होती है जबकि इनसे परिपूर्ण होने पर सृजनात्मक। नकारात्मक और सकारात्मक भावनाओं का यही एकमात्र मापदण्ड है। जब सकारात्मक भावना जागती है, तब हृदय खिल उठता है, और ऐसी स्थिति में

श्री स्वामीजी के शब्दों में 'हृदय की शल्य-क्रिया' सम्भव हो जाती है। हृदय के खुलने पर सभी बन्धन और सीमाएँ विलीन हो जाती हैं और तुम संसार के सभी प्राणियों से जुड़ पाते हो।

यहाँ मैं श्री स्वामीजी के जीवन का एक प्रसंग बतलाना चाहता हूँ जो स्पष्ट रूप से दिखलाता है कि किस प्रकार सच्चा प्रेम भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण कर सकता है। जब श्री स्वामीजी रिखिया में पंचाग्नि साधना कर रहे थे, नौ वर्षों तक वे सभी से एकदम अलग हो गये थे। उनके दर्शन की भी किसी को अनुमति नहीं थी। वे पूर्ण एकान्त में थे, और दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है, यह जानने का कोई साधन भी उनके पास नहीं था – न रेडियो, न अखबार, न टेलीविज़न। एक दिन अपनी साधना पूरी करने के बाद वे बाहर आये और स्वामी सत्संगी को बुलाकर कहा, 'निकट के गाँव में एक दुर्घटना हुई है।' ध्यान से सुनना उन्होंने आगे क्या कहा। 'गाँव में आग लग गयी और कई घर जल गये। उस गाँव में एक परिवार है जिसका घर पूरी तरह नष्ट हो गया है। घरवाला मर गया है, उसकी स्त्री विधवा हो गई है। उसके तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं। बच्चों के साथ वह एक पेड़ के नीचे बैठी है। जाओ, उसका पता लगाओ और उसकी सहायता करो।' यह सब श्री स्वामीजी ने अपनी साधना से बाहर आने पर कहा।

प्रश्न उठता है कि साधना में उन्हें यह कैसे पता चला कि किसी गाँव में आग लगी है? उन्हें कैसे मालूम हुआ कि कोई स्त्री विधवा हो गई है, और उसके तीन छोटे-छोटे बच्चे रो रहे हैं क्योंकि उनका पिता मर गया है, उनका सब कुछ नष्ट हो गया है और उन्हें सहायता की सख्त जरूरत है। उस गाँव और परिवार का पता लगाने में हम लोगों को एक सप्ताह लग गया। पता चलने के बाद हमने उनके लिए घर बनवाया और नये सिरे से जीवन शुरू करने के लिए आवश्यक सभी चीजों का प्रबन्ध किया।

इस घटना के कई दिनों बाद तक मैं सोचता रहा कि श्री स्वामीजी को इस हादसे का पता कैसे चला। एक दिन किसी ने सत्संग में उनसे प्रश्न किया, 'क्या भगवान हमारी प्रार्थना सुनते हैं?' श्री स्वामीजी ने कहा, 'हाँ, भगवान सभी प्रार्थनाएँ सुनते हैं, और अगर वे तुम्हारी प्रार्थना पूरी करते हैं, तो इसका मतलब यह नहीं कि वे तुमसे प्रसन्न हैं, बल्कि वे तुम्हारी आस्था को और दृढ़ करना चाहते हैं। अगर तुम किसी चीज के लिए प्रार्थना करते हो और ईश्वर-कृपा से तुम्हारी मनोकामना पूरी हो जाती है, तो यह मात्र इसलिए

कि भगवान अपने प्रति तुम्हारी श्रद्धा और आस्था को प्रगाढ़ बनाना चाहते हैं। अगर तुम भगवान से प्रार्थना करते हो और उसे पूरा करने में वे बिलम्ब करते हैं तो इसका तात्पर्य यह कि वे तुम्हारा धैर्य बढ़ाना चाहते हैं। और अगर भगवान तुम्हारी प्रार्थना पूरी नहीं करते तो वह इसलिए कि वे जानते हैं कि तुम अपनी मनोकामना पूर्ण करने में स्वयं समर्थ हो, तुम्हें भगवान की सहायता की जरूरत नहीं। यदि तुम भगवान से सहायता के लिए प्रार्थना करते हो और आस-पास तुम्हारी मदद के लिए कोई न हो तो भगवान किसी ऐसे व्यक्ति को प्रेरणा देंगे जो वहाँ आकर तुम्हारी सहायता करेगा।'

यह उत्तर सुनने के बाद मैं समझ गया कि उस स्त्री के साथ हुई दुर्घटना के क्रम में क्या हुआ था। उसने प्रार्थना की, 'भगवान! मेरा सब कुछ समाप्त हो गया। मेरा पति मर गया। तन पर पड़े इन कपड़ों के अलावा मेरे पास कुछ नहीं है, और साथ में ये तीन छोटे बच्चे हैं। यहाँ मेरी मदद करने वाला कोई नहीं। प्रभु, कृपा करो।' भगवान ने यह प्रार्थना सुनी। उन्होंने नीचे देखा कि कौन है निकट में, जो इस असहाय औरत की मदद कर सकता है? उन्होंने स्वामी सत्यानन्द को देखा और कहा, 'सत्यानन्द, यह प्रार्थना मैं तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। इस महिला के लिए यथोचित प्रबन्ध करो।' जब श्री स्वामीजी को वह संदेश मिला तब ध्यान में उन्हें सारी घटना दिखलाई दी और ध्यान से बाहर आकर उन्होंने हम लोगों को उस दुर्घटना का पूरा विवरण दिया और आदेश दिया, 'जाओ और उस महिला की मदद करो।'

हृदय का वास्तविक प्रेम तभी समझ में आता है जब ईश्वर से सम्बन्ध जुड़ता है। अन्यथा जो कुछ तुम अनुभव करते हो वह मात्र कामुकता और वासना है, इसके आगे कुछ नहीं। तुम्हारी प्रेम की अवधारणा अभी दिव्यता से जुड़ी नहीं है। दिव्यता से जुड़ने पर तुम चारों ओर प्रेम की किरणें प्रसारित कर सकोगे।

गतिशील ऊर्जा

जब भावनाएँ सांसारिक प्रकृति की होती हैं, तब उन्हें सम्हालना कठिन हो जाता है। भावना और कुछ नहीं, गतिशील ऊर्जा की अभिव्यक्ति है। जब अपरिष्कृत ऊर्जा सक्रिय हो उठती है तुम उसका नियंत्रण नहीं कर पाते। जब तुम्हारे भीतर क्रोध भड़क उठता है, क्या तुम उसे नियंत्रित कर पाते हो? न ही तुम भय या असुरक्षा की भावना को नियंत्रित कर पाते हो। ये सभी भावनाएँ एक प्रबल, गतिशील और अनियंत्रित ऊर्जा की अभिव्यक्तियाँ हैं।

यह अनियंत्रित ऊर्जा या तो तुम्हें सांसारिकता की ओर ले जा सकती है या आध्यात्मिकता की ओर, क्योंकि शक्ति के दो रूप होते हैं – योग और माया। भावना तुम्हें संसार में भी उलझा सकती है और संसार से छुड़ाकर अन्तरात्मा से भी जोड़ सकती है।

भावनाओं में संतुलन और सामंजस्य लाना जरूरी है। योग परम्परा में भावनाओं के प्रबन्धन के लिए नौ चरण बताये गये हैं। जिस प्रकार अष्टांग योग में आठ चरण हैं, उसी प्रकार भक्ति योग में नौ चरण हैं। अष्टांग योग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि आते हैं। उसी प्रकार भक्ति योग में भी नौ साधनाएँ या चरण हैं, जिनसे गुजरकर मनुष्य अपनी भावनाओं का परिष्कार करता है, उन्हें नियंत्रित करता है और उनको उचित दिशा प्रदान करता है।



परिष्कृत भावना, रचनात्मक कर्म

12 अक्टूबर 2010

योग में हृदय की अवधारणा दो इकाइयों को इंगित करती है – एक है स्थूल और दूसरी सूक्ष्म। जहाँ स्थूल हृदय भौतिक शरीर के भरण-पोषण के लिए उत्तरदायी है, वहीं सूक्ष्म हृदय सम्पूर्ण जीवन के प्रबन्धन के लिए। योग हृदय के गुणों और अभिव्यक्तियों को इसी परिप्रेक्ष्य में देखता है।

भावना के रंग

योग में जब हृदय शब्द का उपयोग होता है तब उसका तात्पर्य शारीरिक अंग से नहीं, बल्कि उस सूक्ष्म केन्द्र से होता है जहाँ से सकारात्मक तथा नकारात्मक, दोनों प्रकार की भावनाएँ उपजती हैं। भावनाएँ यहाँ अपने मूल रूप में होती हैं। जो भावना महत् अर्थात् अहंकार, बुद्धि, चित्त और मनस् के स्तर तक पहुँचती है, वह रूपान्तरित भावना होती है। वह भावना मन के उस क्षेत्र विशेष के अनुरूप कटी-छंटी रहती है, जहाँ विचार, इच्छाएँ और अनुभूतियाँ प्रकट होती हैं। मन में प्रतिबिम्बित होकर तुम्हारी मनोदशा को बदलने से पहले जब भावनाएँ हृदय के स्तर पर उत्पन्न होती हैं, उनका स्वरूप प्रबल, अपरिष्कृत ऊर्जा का रहता है। वह ऊर्जा इतनी प्रबल होती है कि वह तुम्हें अपने साथ बहा ले जा सकती है। वह भावना अपनी विषय-वस्तु के अलावा अन्य सभी चीजों को विस्मृत करा देती है। क्रोध, आकर्षण, ईर्ष्या, द्वेष – सभी उस अपरिष्कृत ऊर्जा की अभिव्यक्तियाँ हैं। भावना के संदर्भ में योग मन और हृदय को भिन्न इकाइयों के रूप में देखता है। बहिर्मुखी भावनाओं को अन्तरात्मा की ओर प्रवाहित करने में हृदय की कहीं अधिक भूमिका रहती है।

जब हृदय बाह्य परिवेश के सम्पर्क में आता है, तब इन्द्रिय-विषयों के संसर्ग से उसमें कुछ प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं। श्री स्वामीजी कहते हैं कि भावनाएँ अपने मूल रूप में पूर्णतया शुद्ध होती हैं। वे शुद्ध ऊर्जा हैं, भौतिक अभिलाषाओं और आकांक्षाओं से पूर्णतया अप्रभावित। अपने मूल रूप में वे एक स्फटिक-खण्ड के समान होती हैं–साफ, पारदर्शी और रंगहीन। लेकिन जब उसी स्फटिक-खण्ड को किसी वस्तु पर रख देते हो तो क्या हो जाता है? अगर उसे लाल कपड़े पर रखते हो तो उसमें लाल रंग दिखाई देता है। उसे काले कपड़े पर रखते हो तो काला रंग और नीले कपड़े पर रखते हो तो नीला रंग झलकता है। स्फटिक का अपना तो कोई रंग है नहीं, पर जिस किसी वस्तु पर वह रखा जाता है उसी का रंग ग्रहण कर लेता है। यही बात हमारी भावनाओं पर भी लागू होती है। मूलत: वे रंगहीन हैं, पर जब किसी घटना, विचार या वस्तु के सम्पर्क में आती हैं, तब उसी का रंग ग्रहण कर लेती हैं और वह रंग फिर हमारे मानसिक व्यवहार को प्रभावित करने लगता है।

मान लो तुम सड़क पर चल रहे हो और अचानक तुम्हारी नजर सड़क के किनारे पड़ी रुपयों से भरी एक थैली पर पड़ती है। तुम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकोगे। जब तुम उस लावारिस रुपयों की थैली को देखते हो तब कौन-सी भावना तुम्हारे अन्दर जागती है? लोभ की। जब तक तुमने रुपयों की उस थैली को नहीं देखा, लोभ का अस्तित्व नहीं था। जिस क्षण तुमने उसे देखा, मन और हृदय में एक प्रतिक्रिया हुई। मन कहता है, 'इसे ले लो, लावारिस ही तो पड़ा है' और हृदय की भावनात्मक ऊर्जा लोभ का रूप ले लेती है।

एक छोटे शिशु को देखकर किस भावना का उदय होता है? स्नेह की भावना स्वाभाविक रूप से प्रकट होती है। हमें उस भाव को बलपूर्वक लाना नहीं पड़ता। उसी प्रकार जब तुम किसी अप्रिय वस्तु या व्यक्ति को देखते हो, तब स्वाभाविक प्रतिक्रिया अस्वीकृति और द्वेष की होती है। जब अपने प्रेमी को देखते हो, तब स्वाभाविक प्रतिक्रिया आकर्षण और वासना की होती है।

जैसे-जैसे मन अपने वातावरण के भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-विषयों के सम्पर्क में आता है, वैसे-वैसे विशेष भावनात्मक प्रतिक्रियाओं का अनुभव होता है। भावनाएँ विभिन्न रंग धारण करती जाती हैं, हालाँकि अपनी स्वाभाविक अवस्था में वे वर्णहीन ही होती हैं।



भावनाओं का दिशान्तरण

हृदय के सकारात्मक और सात्त्विक गुणों की जागृति का उपाय है – बहिर्मुखी भावनाओं को अन्तरात्मा की ओर दिशान्तरित करना। जब भावनाएँ बहिर्मुखी होती हैं तब उनसे हमेशा नकारात्मक या स्वार्थपरक प्रतिक्रिया होती है। इसके विपरीत जब भावनाएँ आत्मोन्मुखी होती हैं, तब प्रतिक्रिया संतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण होती है और विवेक द्वारा निर्दिष्ट होती है।

जब भावनाएँ समन्वित और शान्त हो जाती हैं तब मन सद्गुणों को आत्मसात् करने की दिशा में अपने आप प्रवृत्त होता है। वह शुभ, सकारात्मक, रचनात्मक और सृजनात्मक प्रतिभाओं को हृदयंगम करता है। उदात्त भावनाएँ उस समय जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती

हैं। भावनाओं को समझने, सम्हालने और दिशान्तरित करने की यह विधि भक्ति योग में समझायी गई है।

भक्ति मार्ग और भक्ति योग

भक्ति को दो रूपों में देखा जाता है। पहला है भक्ति मार्ग, और दूसरा, भक्ति योग। भक्ति मार्ग कर्म-काण्ड और विधि-विधान युक्त मार्ग है, जिसे विभिन्न धर्मों ने प्रार्थना, पूजा, आराधना, मंत्र जप आदि के रूप में अपनाया है। भारतीय चिन्तन परम्परा भक्ति मार्ग और भक्ति योग में विभेद करती है और हमारे शास्त्र इस भेद को स्पष्ट रूप से समझाते हैं। श्रीमद्भागवत में भक्ति मार्ग को नवधा भक्ति के रूप में बताया गया है –

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यं आत्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन और वन्दन, ये छः चरण बाह्य विधियाँ हैं जिनके द्वारा व्यक्ति दिव्यता के स्रोत से जुड़ पाता है। ये विधियाँ अपने आराध्य से एक आन्तरिक सम्बन्ध विकसित करने में सहायक होती हैं, जिसका अनुभव सातवें और आठवें चरण में होता है। अन्ततः नौवें चरण में पूर्ण आत्म-समर्पण सिद्ध होता है।



दूसरी ओर, भक्ति योग वह मार्ग है जिसमें तुम अपनी भावनाओं का अवलोकन, दिशान्तरण और परिष्कार करते हो। भावनाओं को रूपान्तरित करके उनमें स्थिरता लानी है। योगीजन कहते हैं कि भक्ति को सिद्ध करने के लिए तुम्हें अपने जीवन और वातावरण को, अपनी मानसिक एवं भावनात्मक अभिव्यक्तियों को सुव्यवस्थित करना होगा। भक्ति योग अपनी नकारात्मक मनोवस्थाओं और व्यवहारों का अवलोकन एवं

रूपान्तरण करने की प्रक्रिया है जिसके द्वारा तुम सही और गलत के बीच विभेद करना जान सकते हो।

भक्ति मार्ग भगवन्नाम के श्रवण और कीर्तन से प्रारम्भ होता है, जबकि भक्ति योग का पहला पड़ाव है संग। यह बात याद रखो कि भक्ति का वास्तविक प्रयोजन भावनाओं की शुद्धि से है, पर जब धर्मों ने भक्ति के विभिन्न घटकों को अपने दायरे में लिया तब उन्हें भक्ति को एक बाह्य कर्मकाण्ड का रूप देना पड़ा जो मनुष्य को अपने आराध्य से जोड़ता है। इसलिए भक्ति मार्ग में माला जपना, प्रार्थना करना, मंत्रों-स्तोत्रों द्वारा देवताओं की स्तुति करना आदि अनेक बाह्य कर्मकाण्ड इस भाव से किये जाते हैं कि 'मैं भगवान से जुड़ रहा हूँ।' भगवान के साथ यह एक धार्मिक सम्बन्ध है। भक्त पूजा-स्थल और पूजा-पद्धति से तादात्म्य स्थापित कर उन्हें अपनी श्रद्धा अर्पित करने का माध्यम बना लेता है। ऐसी भक्ति धार्मिक है, यौगिक नहीं।

श्री राम द्वारा नवधा भक्ति की शिक्षा

यौगिक भक्ति व्यक्तित्व-रूपान्तरण की प्रक्रिया है। रामचरितमानस में श्री राम द्वारा यौगिक भक्ति की व्याख्या की गई है। अपने सीमित व्यक्तित्व के अतिक्रमण को श्री राम भक्ति कहते हैं। अपने उपदेश में वे कहते हैं कि अपने संगों-सम्बन्धों को परखना भक्ति सिद्ध करने का प्रथम सोपान है।

अगर तुम सज्जनों और सत्पुरुषों की संगत करते हो तो कालक्रम में तुम भी उनके जैसे सद्गुण आत्मसात् कर लोगे। अगर तुम नकारात्मक व्यक्तियों का संग करते हो, तो उनके विचार और भावनाएँ ग्रहण कर तुम स्वयं नकारात्मक बन जाओगे। इसलिए जीवन में अच्छे, सद्गुण-सम्पन्न और सत्कर्मी व्यक्तियों का संग करो जो तुम्हें प्रेरित और उत्साहित कर सकें। भक्ति सिद्ध करने की यह पहली शर्त्त श्री राम माता शबरी को बताते हैं। 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा' – मन, वचन और कर्म से पवित्र बनने हेतु पवित्र व्यक्तियों का संग करो।

'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा', अर्थात् दूसरा चरण है मेरी कथाओं से प्रेम। यह श्री राम द्वारा बतलाई अगली शर्त्त है। अक्सर लोग अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए अनावश्यक वाद-विवाद और बहस में अपना समय नष्ट कर देते हैं। 'मैं सही हूँ और तुम गलत हो', उनका यही भाव रहता है। आलोचना, गप्पबाजी और इधर-उधर की अनर्गल बातें पूर्णतया निरर्थक और

निष्फल होती हैं। उनसे न तो कोई प्रेरणा मिलती है, न ही अपनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने की विधि ही प्राप्त होती है। इसलिए अपने कीमती समय का उपयोग परमात्मा के बारे में अध्ययन, चिन्तन, चर्चा और अनुभव करने में करो। उपन्यास के बदले शास्त्र पढ़ो। उपन्यास मात्र मानसिक मनोरंजन करते हैं, पर अगर तुम सद्ग्रन्थों का अध्ययन करोगे तो ऐसी शिक्षा और प्रेरणा मिलेगी जिससे तुम्हारे जीवन का उत्थान होगा।

अगर तुम ईश्वर, सृष्टि और संसार की प्रकृति और गुणों का अध्ययन करोगे, तो तुम जीवन के प्रति उचित मानसिकता और दृष्टिकोण विकसित कर पाओगे। जीवन क्रम-विकास की प्रक्रिया है, और तुम्हें इस प्रक्रिया को सहयोग देना है। जीवन व्यर्थ की गप्पबाजी या ईर्ष्या, घृणा और क्रोध जैसी तुच्छ भावनाओं में नष्ट करने के लिए नहीं मिला। जीवन का एक निश्चित उद्देश्य है, जिसे स्वयं अनुभव करना है। इसलिए ऐसे साहित्य पर चिन्तन-मनन करो जो तुम्हें स्वयं, संसार और ईश्वर के बारे में अन्तर्दृष्टि प्रदान कर सके। यह यौगिक भक्ति का दूसरा चरण है।

श्री राम द्वारा निरूपित भक्ति का तीसरा चरण है निराभिमानी और विनम्र बनना। पूर्णरूपेण अहंकार रहित होना तो सम्भव नहीं, लेकिन कम-से-कम अपने दम्भ और आन्तरिक कठोरता से तो तुम मुक्त हो ही सकते हो। दम्भी होने का तात्पर्य यह है कि तुम्हारे स्वभाव में नम्यता या लचीलापन नहीं है। आन्तरिक रूप से नम्य बनो, दम्भ की तीव्रता को कम करो। विनीत बनो।

श्री स्वामीजी बड़े ही सहज और स्वाभाविक ढंग से मुझे अनेक चीजों की शिक्षा दिया करते थे। वे मुझसे कहते, 'अगर तुम कोई काम जानते हो, और उसे बहुत बढ़िया ढंग से कर सकते हो, तो भी हमेशा यही सोचो कि तुम नहीं जानते, ताकि कर्मों में तुम्हारी पूर्ण सजगता बनी रहे।' यदि तुम सोचते हो कि तुम जानते हो, तो तुम्हारी सजगता तुम्हारे कर्म से अलग रहती है। जब सजगता कर्म से हट जाती है और कर्म अकेला रह जाता है, तब अहंकार इस रूप में प्रकट होता है– 'मैं यह काम आसानी से कर सकता हूँ।' मन के अन्दर इस प्रकार के भाव उठते हैं– 'तुम मुझे समझाने वाले कौन होते हो? तुमसे बेहतर मैं जानता हूँ।' यही अहंकार का प्रारम्भ है। श्री स्वामीजी मुझसे कहा करते थे, 'भले ही तुम सभी चीजों में माहिर हो जाओ, लेकिन अपने मन में हमेशा यही सोचो कि तुम नौसिखिये हो।' और मैंने अपने गुरु के इस निर्देश का पालन किया है। अपने गुरु के निर्देशों और शिक्षाओं का पालन करके विनम्रता का

विकास करना चाहिए। जब तुम विनम्र हो जाते हो तब हृदय की नकारात्मक अभिव्यक्तियाँ स्वत: समाप्त हो जाती हैं और उनके स्थान पर सकारात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रकट होती हैं। ईर्ष्या, लोभ और द्वेष जैसे भाव समाप्त हो जाते हैं; उनका स्थान प्रेम, करुणा, सहानुभूति और सौहार्द ले लेते हैं।

इस दृष्टि से भक्ति की यौगिक अवधारणा तुम्हारे मनोवैज्ञानिक विकास से सम्बन्धित है। भावनाओं की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए यह तुम्हारे स्वभाव का सूक्ष्म परिष्कार करती है। श्री राम द्वारा वर्णित भक्ति के यौगिक मार्ग का अनुसरण करने से हृदय की प्रतिभाओं का विकास होता है। स्वयं को इस मार्ग पर स्थापित कर लेने के बाद तुम्हारी भावनाएँ अन्तरात्मा की खोज में दिशान्तरित हो जाएँगी। जब अन्तरात्मा का साक्षात्कार होगा तब समझ में आ जाएगा कि जीवात्मा परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब है और यही भक्ति की परिणति है।



इस भक्ति की शुरुआत अपने सम्बन्धों के विश्लेषण से होती है। सम्बन्धों के दायरे में हमारे परिवारजन, मित्रगण और समाज के वे सभी लोग आते हैं जिनसे हमारा सम्पर्क होता है। अपने आप से पूछो कि उन लोगों से तुम किस प्रकार की बातचीत करते हो, उनसे किस प्रकार का पारस्परिक व्यवहार होता है। तुम्हें शायद यह पता चले कि ये सम्बन्ध वास्तव में तुम्हारे उत्थान में सहायक नहीं हैं, बल्कि वे तुम्हें सांसारिकता में और अधिक उलझाते हैं। अगर सचमुच ऐसा है तो तुम्हें इन नकारात्म्क सम्बन्धों से अपने आप को अलग करना होगा।

महर्षि पतंजलि का संगति विषयक परामर्श

योग सूत्रों (1.33) में महर्षि पतंजलि ने संगति के नियमों की चर्चा की है –

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां
सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

अथार्त् सुखी, दुःखी, सदाचारी एवं दुराचारी के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, प्रसन्नता और उदासीनता का मनोभाव रखने से मन शुद्ध और शान्त रहता है।

यह कथन भी इस बात पर बल देता है कि तुम्हारी संगति उपयुक्त होनी चाहिए। जो सुखी हैं, उनसे मित्रता रखो और उनका सुख तुम तक आ जायेगा, तुम उस सुख के भागीदार बनोगे। जो दुःखी हैं, चाहे शारीरिक रूप से या मानसिक रूप से, उनके प्रति करुणा का भाव रखो। जो सदाचारी और सज्जन हैं उनके प्रति प्रसन्नता का भाव रखो और उनसे सम्बन्ध जोड़ो। कुटिल, नकारात्मक और अनिष्टकारी लोगों की उपेक्षा करो, उनसे किसी प्रकार का लेना-देना मत रखो।

निष्पक्ष भाव से अपना और अपने संगी-साथियों का विश्लेषण करो और तब निर्णय लो कि किन लोगों का तुम्हारे जीवन पर सकारात्मक प्रभाव है, और किन लोगों की तुम्हारे जीवन में कोई प्रासंगिकता नहीं है। वे कौन हैं जो तुम्हें जीवन के सकारात्मक पक्षों की खोज की प्रेरणा देते हैं? वे कौन हैं जो सांसारिक भोगों और प्रपंचों में और अधिक उलझाने के लिए प्रलोभन देते हैं? मनीषियों ने तो यहाँ तक कह दिया है कि तुम्हें अपनी संगति के बारे में इस हद

तक सतर्क होना चाहिए कि अगर तुम्हारा जीवनसाथी तुम्हारे लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक नहीं तो उसका भी त्याग करने के लिए तत्पर रहो।

इस प्रकार भक्ति योग द्वारा भावनाओं के शुद्धिकरण का मार्ग प्रशस्त होता है, जिसका आरम्भ अपनी संगति और सम्बन्धों के अवलोकन और विश्लेषण से होता है।

उच्चतर प्रेम का आयाम

भक्ति योग का लक्ष्य भावनाओं की शुद्धि है। जब यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब तुम अपने परिवेश और लोगों से जुड़ पाते हो। तुम उनकी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता और अपनी उपलब्धियों को उनकी उपलब्धियाँ समझने लगते हो। तुम्हारा मन प्रत्येक व्यक्ति से जुड़ने लगता है, और तब जाकर प्रेम की वास्तविक, शुद्ध प्रकृति स्पष्ट रूप से समझ में आती है। यह प्रेम शारीरिक, कामुक अथवा भावनात्मक नहीं, बल्कि सार्वभौमिक और अलौकिक होता है।

तुमने कथाएँ पढ़ी होंगी कि प्रबुद्ध ऋषि-मुनियों के आश्रमों में हिंसक पशु भी अपनी स्वाभाविक शत्रुता त्याग देते थे। जिस स्थान पर कोई सिद्ध पुरुष साधना और तपस्या करता है, वहाँ बाघ और बकरी एक ही घाट पर पानी पीते हैं। उस पवित्र वातावरण के प्रभाव से पशु अपना स्वभाव भूल जाते हैं। वहाँ व्याप्त करुणा और प्रेम की भावना इतनी प्रगाढ़ होती है कि हिंसक प्रवृत्तियाँ विस्मृत हो जाती हैं। किसी महात्मा के सान्निध्य में आने पर शायद तुम्हें भी ऐसा अनुभव हुआ होगा। तुम्हें सहसा शान्ति की अनुभूति हुई होगी, ऐसा प्रतीत हुआ होगा कि तुम्हारी सारी चिन्ताएँ और परेशानियाँ समाप्त हो गई हैं। तुम्हारे मन में अनेक प्रश्न रहे होंगे पर वहाँ पहुँचकर सब छू-मंतर हो गए होंगे। पूर्ण विश्रान्ति का अनुभव करते हुए तुम्हारे मन में सम्भवत: यह विचार आया होगा, 'यहाँ बड़ा शान्त वातावरण है। मेरे मन में ढेर सारे प्रश्न थे, पर अभी तो एक भी नहीं है।' यह उस योगी या साधु से नि:सृत प्रेम की सूक्ष्म तरंगों के कारण होता है, जो मन की सभी चिन्ताएँ मिटा देती हैं।

कर्म में रचनात्मकता

हृदय-शुद्धि अर्जित करने के बाद हाथ की क्षमताओं और प्रतिभाओं को जागृत करना होता है। हाथ का तात्पर्य तुम्हारे कर्मों से है। हाथ कर्मों में

कुशलता, निपुणता और पूर्णता के प्रतीक हैं; वे तुम्हारे व्यक्तित्व के सृजनात्मक आयाम को दर्शाते हैं।

तुम्हारे कर्म सृजनात्मक सिद्धान्तों द्वारा निर्देशित होने चाहिए, उनका स्वरूप रचनात्मक होना चाहिए। हाथों की प्रतिभा सृजनशीलता से आरम्भ होती है। यहीं पर कर्म-योग की अवधारणा आती है। जो भी कर्म तुम्हें करने हैं, चाहे वे शारीरिक हों या मानसिक या आध्यात्मिक, तुम उन्हें अवश्य करो, लेकिन उन कर्मों से कुछ अपेक्षा मत रखो। उनके फल पर दृष्टि गड़ाये मत रखो। अपनी ओर से सबसे बढ़िया प्रयास करो और कर्म की प्रतिक्रियाओं से अपने आप को अप्रभावित रखो।

अनपेक्षा का दृष्टान्त

मैं छः वर्ष की अवस्था में आश्रम रहने आया था। उन दिनों श्री स्वामीजी जब कभी मुझे कोई काम करने को कहते, मैं उसे पूरा करने तुरन्त दौड़ पड़ता और काम खत्म करके उनके सामने जा खड़ा होता। वे केवल इतना ही पूछते, 'काम पूरा हो गया?' मैं गर्व से कहता, 'जी हाँ, स्वामीजी।' वे कभी 'शाबाश' या 'बहुत अच्छा' नहीं कहते, बल्कि उनका अगला निर्देश होता, 'ठीक है, अब यह दूसरा काम करो।'

काफी दिनों बाद जब मैं सयाना हो गया, तब मुझे समझ में आया कि कोई भी काम पूरा करने पर मेरे अन्दर एक सूक्ष्म अपेक्षा रहती थी–प्रशंसा के दो शब्दों की। वह अपेक्षा हमेशा बनी रहती, वह कभी पूरी नहीं होती। मैं अपना उदाहरण यह समझाने के लिए दे रहा हूँ कि गुरु के साथ भी अपेक्षा रहती है। समाज में तो निस्संदेह धन, सम्मान, नाम और यश की अपेक्षा रहती है, जो इस सूक्ष्म अपेक्षा से कहीं प्रबल होती है। लेकिन गुरु के सान्निध्य में कुशलता और निष्ठा के साथ कर्म करते हुए भी मन के किसी कोने में यह विचार रहता है, 'काश स्वामीजी मेरे काम की प्रशंसा करें।' वही अपेक्षा मेरी भी थी। 'मुझे उम्मीद है कि स्वामीजी को मेरा काम पसन्द आएगा। वे मेरी पीठ थपथपायेंगे और कहेंगे– वाह निरंजन, तुमने कमाल कर दिया।' पर ऐसा कभी हुआ नहीं। जब मुझे इस अपेक्षा का आभास हुआ, मैं सतर्क हो गया। मैंने सोचा, 'अरे, मेरे अन्दर तो यह सूक्ष्म अपेक्षा छिपी है, जो दर्शाती है कि मैं अपने कर्म से कुछ-न-कुछ जरूर चाहता हूँ। यह ठीक नहीं।' जिस दिन मैंने इस विषय पर सोचना बन्द किया, उस दिन पहली बार श्री स्वामीजी ने मेरी पीठ थपथपायी!



शिष्यों के जीवन में भी अपेक्षा रहती है। यह बात तुम सब पर लागू होती है, फिर भी तुम लोग प्रवचन देते हो कि कोई अपेक्षा मत रखो। तुम्हारे अन्दर अपेक्षाएँ भरी हैं पर दूसरों को अनपेक्षा का उपदेश देते फिरते हो। केवल इसलिए कि भगवद्गीता में यही कहा गया है, स्वामी शिवानन्द जी यही कहते थे, स्वामी सत्यानन्द भी यही कहते हैं। सैकड़ों प्रवचन देने के बावजूद तुम्हारे मन की गहराइयों में फल की आशा और अपेक्षा बनी रहती है। संन्यासी भी कर्म योग सिद्ध नहीं कर पाते हैं। मैं तब तक कर्म योग सिद्ध नहीं कर पाया जब तक मैंने यह नहीं समझा कि मुझे अपने गुरु से कुछ अपेक्षाएँ हैं।

बोरियत का इलाज

अपने कर्मों को सुधारने का उपाय यही है कि उनके साथ तादात्म्य मत रखो, लेकिन साथ ही जब उन्हें करते हो तो उनमें जी-जान लगा दो, अपनी पूरी रचनात्मकता लगा दो। एक संन्यासी के रूप में मेरे जीवन में अनेक दौर ऐसे रहे हैं जहाँ मेरी दिनचर्या लम्बे अरसे तक एक-समान रही। लेकिन मैं अपनी दिनचर्या से कभी नहीं ऊबा। बेशक दूसरे लोगों को ऊबते और हताश होते देखता हूँ। 'मुझे रोज उसी दफ्तर में जाना पड़ता है, उन्हीं लोगों से मिलना पड़ता है, उन्हीं समस्याओं



का सामना करना पड़ता है', इस तरह के विचार तुम लोगों के मन में आते हैं। 'रोज वही मेज, वही वाऊचर लिखना, वही रसीद बनाना।' तुम अपने काम से ऊब जाते हो, दिनचर्या से बोर हो जाते हो। जब बोरियत आ जाती है, तब रचनात्मकता समाप्त हो जाती है, मन पर नियंत्रण छूटने लगता है।

मैं आज तक कभी नहीं ऊबा, क्योंकि मेरे गुरु ने योग सिद्ध करने के लिए मुझे एक सूत्र दिया था, जिसके प्रति मैं शुरू से सजग रहा और जिसका मैंने हमेशा पालन किया। उन्होंने कहा था, 'जो भी काम करते हो, ऐसा सोचकर करो कि जीवन में तुम उसे पहली और अन्तिम बार कर रहे हो। हर दिन के बारे में यही सोचो कि तुम्हारे जीवन का यह पहला और आखिरी दिन है।' बचपन से ही मैं प्रतिदिन सोचता, 'यह मेरे जीवन का पहला दिन है, और आज मैं जो भी करूँगा, उसे बेहतरीन तरीके से करूँगा।' कई बार मुझे पत्राचार जैसे आश्रम के सामान्य काम-काज करने को मिलते थे, पर मैंने कर्म के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण विकसित किया जो मेरे व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन गया है – 'आज मेरे जीवन का प्रथम दिन है, इसलिए इसे अच्छी तरह जीना है,

प्रसन्नता के साथ जीना है और पूर्ण रचनात्मकता के साथ जीना है।' एक ही पत्र को बीस बार लिखना पड़ता तो भी मैं ऊबता नहीं था। हर प्रयास मेरे लिए प्रथम और अन्तिम था। चाहे साफ-सफाई का काम हो, योग की कक्षा चलाना हो अथवा कोई प्रशासनिक काम हो, चाहे श्री स्वामीजी के निर्देशानुसार कोई कार्य हो या स्वतंत्र रूप से किया गया कार्य, मैंने कभी किसी काम में बोरियत महसूस नहीं की। इसी वजह से मैं अपनी सारी ऊर्जा और सजगता सही काम को सही ढंग से करने में लगा पाया।

कर्मों के प्रति नवीन दृष्टिकोण का विकास

कर्म योग वास्तव में जीवन की परिस्थितियों, घटनाओं और परिणामों के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन है। जब तुम कर्म योग का अभ्यास करते हो, तब जीवन में किसी प्रकार का असंतोष नहीं होता। यदि सभी काम ऐसे कर रहे हो जैसे पहली बार और उनमें तुमने पूरी जी-जान लगा दी है तो फिर असंतोष क्यों होगा? ऐसी मनोदशा में असंतोष का प्रश्न ही नहीं उठता। असंतोष का अनुभव तब होता है जब तुम्हें लगता है कि तुमने पर्याप्त प्रयास नहीं किया। पर्याप्त प्रयास क्यों नहीं कर पाये? या तो तुमने काम को ठीक से समझा नहीं या फिर तुम आलसी थे।

इसलिए रचनात्मकता को हम हाथों की प्रतिभा की कसौटी मानते हैं। रचनात्मक बनने के लिए प्रारम्भ में तुम्हें सजग प्रयास करना होगा। सजग प्रयास के बिना रचनात्मकता प्राप्त नहीं हो सकती। प्रारम्भ में यह सजग प्रयास एक निश्चित अवधि के लिए आवश्यक है। एक बार तुम इस मानसिकता में ढलकर अपने कर्मों के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपना लेते हो, तब रचनात्मकता तुम्हारे व्यक्तित्व का स्वाभाविक अंग बन जाएगी।

तस्मात् योगी भव

प्रत्याहार और धारणा द्वारा मन-मस्तिष्क की प्रतिभा जगायी जाती है। भक्ति योग द्वारा हृदय की नकारात्मक प्रवृत्तियाँ हटायी जाती हैं और भावनाओं का दिशान्तरण कर उन बाह्य प्रभावों से मुक्त किया जाता है जो भावनाओं की स्वाभाविक प्रकृति को विकृत करते हैं। अधिक-से-अधिक रचनात्मकता के विकास द्वारा हाथों की क्षमताओं का अनुभव होता है।

बुद्धि, भावना और कर्म के जागरण का तात्पर्य एक बेहतर मनुष्य के अन्वेषण और विकास से है। बेहतर बनने की सम्भावना मनुष्य में पहले से

निहित है। मनुष्य का विकास निरन्तर और अनवरत है, यह कभी समाप्त नहीं होता। 'मुझमें और अधिक विकास की गुंजाइश नहीं' – तुम ऐसा तभी सोचते हो जब तुम्हारा मन निस्तेज और ढीला पड़ जाता है। यदि तुम आशावादी, सकारात्मक और सृजनात्मक बने रह सको, अपने विचारों और भावनाओं में संतुलन और सामंजस्य बनाये रख सको, तो तुम्हारे व्यक्तित्व का कायाकल्प हो जाएगा। तुम्हारे पुराने व्यक्तित्व की राख से एक नया, प्रकाशमान् व्यक्तित्व प्रकट होगा। वह नया व्यक्तित्व एक योगी का होगा। तुम एक ऐसे योगी बनोगे जिसने अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त कर अपने जीवन को पूर्णतया रूपान्तरित कर दिया है, एक ऐसा योगी जो अपने चरित्र को परिष्कृत कर आत्म-ज्ञान में स्थापित हो चुका है। यही वह योग-यात्रा है जिसके बारे में स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे, और यही वह योग-यात्रा है जिस पर स्वामी सत्यानन्द जी ने हम सब को अग्रसर किया है।

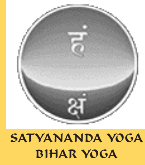




स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



SATYANANDA YOGA
BIHAR YOGA

'बुद्धि, भावना और कर्म के जागरण का तात्पर्य एक बेहतर मनुष्य के अन्वेषण और विकास से है। बेहतर बनने की सम्भावना मनुष्य में पहले से निहित है। यदि तुम आशावादी, सकारात्मक और सृजनात्मक बने रह सको, अपने विचारों और भावनाओं में संतुलन और सामंजस्य बनाये रख सको, तो तुम्हारे व्यक्तित्व का कायाकल्प हो जाएगा। तुम्हारे पुराने व्यक्तित्व की राख से एक नया, प्रकाशमान् व्यक्तित्व प्रकट होगा। वह नया व्यक्तित्व एक योगी का होगा। यही वह योग-यात्रा है जिसके बारे में स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे, और यही वह योग-यात्रा है जिस पर स्वामी सत्यानन्द जी ने हम सब को अग्रसर किया है।'

सन् 2009 से स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है और मुंगेर में योगदृष्टि सत्संग शृंखला के अन्तर्गत योग के विभिन्न पक्षों पर दिये गये प्रबोधक व्याख्यान स्वामीजी की इसी नयी जीवनशैली के अंग हैं।

बुद्धि, भावना और कर्म का समग्र योग, स्वामीजी द्वारा गंगा दर्शन में अक्टूबर 2010 में दिये सत्संगों का विषय था। इन सत्संगों में स्वामीजी ने सरस एवं सुबोध शैली में समझाया कि किस प्रकार इन प्रतिभाओं की प्रकृति को समझकर और एक क्रमबद्ध प्रणाली द्वारा इन्हें परिष्कृत एवं रूपान्तरित कर, हम अपने मन और भावनाओं में सामंजस्य ला सकते हैं और अपने कर्मों के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपना सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास सुलभता से हो सकता है।



ISBN :978-93-81620-07-6